जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला

चतुर्थ एवं पंचम सत्र का निर्धारित पाठ्यक्रम

लेखन एवं सङ्कलन :
पण्डित कैलाशचन्द्र जैन

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षुमण्डल, देहरादून
एवं
पण्डित कैलाशचन्द्र जैन परिवार, अलीगढ़

ॐ

॥ परमात्मने नमः ॥

पण्डित कैलाशचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, पुष्प–11

जैन-सिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला

चतुर्थ एवं पंचम सत्र का निर्धारित पाठ्यक्रम

लेखन एवं सङ्कलन :
पण्डित कैलाशचन्द्र जैन
'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़ (उ०प्र०)

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर–जैन मुमुक्षुमण्डल, देहरादून
एवं
पण्डित कैलाशचन्द्र जैन परिवार, अलीगढ़

पाँचवाँ संस्करण : 1100 प्रतियाँ (सम्पादित)
(दशलक्षण महापर्व के पावन अवसर पर प्रकाशित, मंगलवार, 03 सितम्बर 2019)

मूल्य –

— मुमुक्षुता की प्रगटता अथवा भावना/संकल्प ही
इस पुस्तक का उचित मूल्य है।

Available At -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN**
Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
www.mangalayatan.com; info@mangalayatan.com

— **TEERTHDHAM CHIDAYATAN**
Dusari Nasiyan se Aage, Hastinapur, Distt. Meerut-250404 (U.P.)
Shri Mukeshchand Jain, Mob, 9837079003

— **SHRI KUNDKUND KAHAN DIG. JAIN SWADHYAY MANDIR**
29, Gandhi Road, Dehradun-248001 (Uttarakhand)
Ph. : 0135 - 2654661 / 2623131

— **AZAD TRADING COMPANY**
Jain Mandir ke Neeche, Lal Kauyan, Bulandshahar-203001 (U.P.)
Ph. : 9897096781

— **SHREE KUNDKUND-KAHAN PARMARTHIK TRUST**
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :
मङ्गलायतन मुद्रणालय, अलीगढ़

प्रकाशकीय

जगत के सब जीव, सुख चाहते हैं और दु:ख से भयभीत हैं। सुखी होने के लिये, जिनवचनों को समझना अत्यन्त आवश्यक है, इसी प्रयोजन हेतु जिनधर्म में प्रवेश पाने के इच्छुक छात्रों/मङ्गलार्थियों को आगमानुसार, जिनधर्म की शिक्षा प्रदान कर, भविष्य को शाश्वत सुख की ओर अग्रसर करने का प्रयास किया जा रहा है। जिनधर्म के रहस्यों के उद्घोषक अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की शरण में रहकर, पूज्य पण्डितश्री कैलाशचन्द्रजी जैन ने समग्र जिनशासन के जिन मूलभूत सिद्धान्तों को सीखा, उन्हें 'जैन-सिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला' के आठ भागों में गुंथित किया, जो जिनधर्म में प्रवेश पाने के लिये, अत्यन्त प्रयोजनभूत है। जैनधर्म के प्राणभूत जानकर, विद्यार्थियों की प्रारम्भ से लेकर बारहवीं कक्षा तक के विद्यार्थियों के लिये यह पाठ्यक्रम में शामिल करने का निर्णय, विद्वानों की एक बैठक में लिया गया। **मङ्गलायतन** में प्रायोजित इस बैठक में, बालब्रह्मचारिणी बहिन कल्पना जैन, सागर/जयपुर; श्रीमती बीना जैन, देहरादून; पण्डित अशोक लुहाड़िया, भूतपूर्व निदेशक; पण्डित सचिन जैन, पण्डित सुधीर जैन, निदेशक; डॉ. सचिन्द्र जैन, प्राचार्य, भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन, **तीर्थधाम मङ्गलायतन,** शामिल थे।

इस पाठ्यक्रम की सरलता, आत्मकल्याण हेतु महत्तानुसार सभी आध्यात्मिक विद्यालयों में प्रारम्भ कराने की ओर भी, हमारी भावना है।

सभी विद्यार्थी इन भागों में समाहित जिनधर्म की नींवरूप सिद्धान्तों को गम्भीरता से ग्रहणकर, अपने दृष्टि दोष दूरकर, आत्मानुभवता करें-यही मंगल भावना है।

निवेदक

प्रकाशक मण्डल

भूमिका

वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा का अनेकान्त-स्याद्वादमयी जिनशासन, चार अनुयोगमय है एवं जिनवाणी में अनेकान्तमय वस्तु का स्याद्वादशैली में प्रतिपादन किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने अनेकान्त को जिनेन्द्रभगवान का अलंघ्य शासन कहा है। इसलिए अनेकान्तमय वस्तु को जानकर, उसमें से सम्यक् एकान्तस्वरूप निज शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन ही परम हितकारी है, इसलिए इस चौथे भाग में सर्व प्रथम अनेकान्त स्याद्वाद सम्बन्धी प्रश्नोत्तर दिये गये हैं।

आत्मा का हित मोक्ष ही है क्योंकि मोक्ष में आकुलता नहीं है; अत: निज चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट करना, प्रत्येक पात्र जीव का कर्तव्य है। अनादि काल से ही अज्ञानी जीव, शुभभावरूप पराश्रितभावों में मोक्षमार्ग की कल्पना करके अथवा शरीराश्रित क्रियाकाण्ड में मोक्षमार्ग मानकर, संसार परिभ्रमण का पात्र बना हुआ है; इसलिए दूसरे और तीसरे अध्याय में मोक्षमार्ग तथा मोक्षमार्ग सम्बन्धी प्रश्नोत्तरों का समावेश किया गया है; जिससे बन्धमार्ग में मोक्षमार्ग माननेरूप मिथ्याभ्रान्ति का अभाव होकर आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त हो।

तत्त्वार्थसूत्र में जीवों के निज भावों का वर्णन करते हुए, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिकभाव को जीव का स्वतत्त्व कहा गया है। इन भावों का स्वरूप पहचानकर, उपादेयभूत निज परमपारिणामिकभाव के अवलम्बन से, सर्व प्रथम औपशमिक, धर्म का क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव प्रगट करना पात्र जीवों का कर्तव्य है। यद्यपि औदयिकभाव भी जीव की पर्याय में होता है, तथापि आकुलतामय होने से उसे हेय कहा गया है। इन सभी पंच भावों पर उपयोगी प्रश्नोत्तरों का समावेश भी इस पुस्तक में किया गया है।

पण्डित राजमलजी द्वारा रचित पंचाध्यायी ग्रन्थ अध्यात्म के सूक्ष्म एवं गम्भीर रहस्यों से भरपूर है। इसमें द्रव्य-गुण-पर्याय; निश्चय-व्यवहार आदि

नय; जीवों के पाँच भाव; सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्मता से प्रतिपादित किया गया है। अत: पात्र जीवों के लिये उपयोगी जानकर, इस ग्रन्थ के आधार पर प्रश्नोत्तरों का संकलन अन्त में परिशिष्टरूप से दिया गया है।

यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि वर्तमान दिगम्बर जैन समाज में उक्त समस्त विषयों की चर्चा का उदय पूज्य गुरुदेवश्री की अध्यात्म क्रान्ति से ही हुआ है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने प्रवचनों में जैन सिद्धान्तों का आत्महितकारी स्वरूप स्पष्ट करते हुए, निरन्तर आत्मकल्याण की पावन प्रेरणा भी प्रदान की है। इस उपकार के लिये पूज्य गुरुदेवश्री के चरणों में सादर वन्दन समर्पित करता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन एवं समादरणीय श्री रामजीभाई दोशी, श्री खीमचन्दभाई सेठ की कक्षाओं के समय ही मैं इन विषयों को प्रश्नोत्तररूप से आत्महितार्थ लिखता रहा हूँ, जिसे देहरादून मुमुक्षु मण्डल ने अब तक तीन बार प्रकाशित किया है। अब यह चौथा संस्करण मेरी भावना के अनुरूप सम्पादित होकर प्रकाशित किया जा रहा है, जिसकी मुझे प्रसन्नता है।

हे जीवों! यदि आत्महित करना चाहते हो तो समस्त प्रकार से परिपूर्ण निज आत्मस्वभाव की रुचि और विश्वास करो। देहादि से सर्वथा भिन्न ज्ञानस्वरूप निज आत्मा का निर्णय करना ही सम्पूर्ण जिनशासन का सार है क्योंकि जो जीव, देहादि से भिन्न ज्ञान–दर्शनस्वभावी आत्मा का आश्रय लेते हैं, वे मोक्षमार्ग प्राप्त कर मोक्ष को चले जाते हैं और जो देहादि में ही अपनेपने का श्रद्धान–ज्ञान–आचरण करते हैं, वे चारों गतियों में घूमकर निगोद में चले जाते हैं।

सभी जीव इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये प्रश्नोत्तरों का बारम्बार अभ्यास करके, आत्महित के मार्ग में प्रवर्तमान हों – इसी भावना के साथ–

पण्डित कैलाशचन्द्र जैन
अलीगढ़

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारत की वसुन्धरा, अनादि से ही तीर्थङ्कर भगवन्तों, वीतरागी सन्तों, ज्ञानी-धर्मात्माओं एवं दार्शनिक / आध्यात्मिक चिन्तकों जन्मदात्री रही है। इसी देश में वर्तमान काल में भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक चौबीस तीर्थङ्कर हुए हैं। वर्तमान में भगवान महावीर के शासनकाल में धरसेन आदि महान दिगम्बर सन्त, श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य आदि महान आध्यात्मिक सन्त, इस पवित्र जिनशासन की पताका को दिग्दिगन्त में फहराते रहे हैं।

वर्तमान शताब्दी में जिनेन्द्रभगवन्तों, वीतरागी सन्तों एवं ज्ञानी धर्मात्माओं द्वारा उद्घाटित इस शाश्वत् सत्य को, जिन्होंने अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से स्वयं आत्मसात करते हुए पैंतालीस वर्षों तक अविरल प्रवाहित अपनी दिव्यवाणी से, इस विश्व में आध्यात्मिक क्रान्ति का शंखनाद किया – ऐसे परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी से आज कौन अपरिचित है! पूज्य गुरुदेवश्री ने क्रियाकाण्ड की काली कारा में कैद, इस विशुद्ध जिनशासन को अपने आध्यात्मिक आभामण्डल के द्वारा न मुक्त ही किया, अपितु उसका ऐसा प्रचार-प्रसार जिसने मानों इस विषम पञ्चम काल में तीर्थङ्करों का विरह भुलाकर, भरतक्षेत्र को विदेहक्षेत्र और पञ्चम काल को चौथा काल ही बना दिया।

भारतदेश के गुजरात राज्य में भावनगर जनपद के 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल, सन् 1890 ईस्वी) प्रातःकाल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

सात वर्ष की वय में लौकिक शिक्षा लेना प्रारम्भ किया। प्रत्येक वस्तु के हृदय तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धिप्रतिभा, मधुरभाषीपना, शान्तस्वभाव, सौम्य व गम्भीर मुखमुद्रा, तथा निस्पृह स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में प्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में

प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में माता के अवसान से, पिताजी के साथ पालेज जाना हुआ। चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर रात्रि के समय रामलीला या नाटक देखने जाते, तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन के काव्य की रचना करते हैं — **शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।**

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करते हैं, और गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करते हैं, फिर 24 वर्ष की उम्र में (विक्रम संवत् 1970) में जन्मनगरी उमराला में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार करते हैं। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाती है, तीक्ष्ण बुद्धि के धारक कानजी को शङ्का होती है कि कुछ गलत हो रहा है।

विक्रम संवत् 1978 में महावीरप्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसङ्ग बनता है :

विधि के किसी धन्य क्षण में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, गुरुदेवश्री के हस्तकमल में आता है और इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकलते है — **'यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** समयसार का अध्ययन और चिन्तन करते हुए अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रस्फुटित होता है एवं अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन होता है। भूली पड़ी परिणति निज घर देखती है। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका

इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो जाता है कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण अन्तरंग श्रद्धा कुछ और तथा बाहर में वेष कुछ और — यह स्थिति आपको असह्य लगने लगती है। अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय करते हैं।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थल की शोध करते हुए सोनगढ़ आकर 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर जन्मकल्याणक के दिवस, (चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991) दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न, मुँहपट्टी का त्याग करते हैं और स्वयं घोषित करते हैं कि '**अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।**' सिंहवृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

'स्टार ऑफ इण्डिया' में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा। अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय-मन्दिर**' का निर्माण किया। गुरुदेवश्री ने ज्येष्ठ कृष्णा 8, संवत् 1994 के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह 'स्वाध्यायमन्दिर' जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

यहाँ दिगम्बरधर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया। उनमें से 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर तो 19 बार अध्यात्म वर्षा की। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1961 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण किया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह

मङ्गल गुरुवाणी, देश–विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर–घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, देश–विदेश के समस्त मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, इस हेतु से विक्रम संवत् 2000 के मार्गशीष माह से (दिसम्बर 1943 से) **'आत्मधर्म'** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 – फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पञ्च कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र–गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा अफ्रीका के नैरोबी में कुल 66 पञ्च कल्याणक तथा वेदी प्रतिष्ठा इन वीतरागमार्ग प्रवर्तक सत्पुरुष के पावन कर–कमलों से हुई।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ।

दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार (मार्गशीष कृष्णा 7, संवत् 2037) के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष देहादि का लक्ष्य छोड़कर, अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके यहाँ से अध्यात्म युग सृजन कर गये।

अनुक्रमणिका

1.	निश्चयनय-व्यवहारनय	3
2.	उभयाभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप	25
3.	श्री पञ्चास्तिकाय में समागत एकान्त....	150
4.	पाँच लब्धियों का स्वरूप	153
5.	गोम्मटसार पीठिका प्रश्नोत्तर	164
6.	अज्ञानी के अभिप्राय में व्यवहार.....	187
7.	अनेकान्त और स्याद्वाद	201

ॐ

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला

भाग - 4

मङ्गलाचरण

णमो अरहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं;
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं ॥1 ॥

आत्मा सो अर्हन्त है, निश्चय सिद्ध जु सोहि।
आचारज उवझाय अरु, निश्चय साधु सोहि ॥2 ॥

स्याद्वाद अधिकार अब, कहौ जैन को मूल।
जाकें जानत जगत जन, लहैं जगत-जल-कूल ॥3 ॥

देव गुरु दोनों खड़े, किसके लागू पाय।
बलिहारी गुरुदेव की, भगवन दियो बताय ॥4 ॥

करुणानिधि गुरुदेवश्री, दिया सत्य उपदेश।
ज्ञानी माने परख कर, करे मूढ़ संक्लेश ॥5 ॥

परमागम के सारभूत सिद्धान्त

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपनाहै।
10. ध्रुव का अवलम्बन है, वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

1

निश्चयनय-व्यवहारनय

प्रश्न 1- निश्चय-व्यवहार किसे कहते हैं?

उत्तर - (1) स्वाश्रित, निश्चय; पराश्रित, व्यवहार।

(2) व्याप्य-व्यापक का सद्भाव, निश्चय; व्याप्य-व्यापक का अभाव, व्यवहार।

(3) अभेद, सो निश्चय; भेद, सो व्यवहार।

(4) अनुपचार, सो निश्चय; उपचार, सो व्यवहार।

(5) भूतार्थ, सो निश्चय; अभूतार्थ, सो व्यवहार।

(6) मुख्य, सो निश्चय; गौण सो व्यवहार कहते हैं।

इन सब परिभाषाओं का अर्थ एक ही है।

प्रश्न 2- स्वाश्रित, निश्चय और पराश्रित, व्यवहार को किस-किस प्रकार जानना चाहिए?

उत्तर - (1) जीव का विकारीभाव, स्वाश्रित होने से निश्चय है; इसकी अपेक्षा कर्म आदि परद्रव्य, पराश्रित होने से व्यवहार है।

(2) निर्मल (अविकारी) परिणति, स्वाश्रित होने से निश्चय है; इसकी अपेक्षा जीव का विकारीभाव, परनिमित्त की अपेक्षा रखता है; इसलिए पराश्रित होने से व्यवहार है।

(3) अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव, स्वाश्रित होने से निश्चय है; इसकी अपेक्षा निर्मल (अविकारी) परिणति, त्रिकाली न होने से व्यवहार है।

प्रश्न 3- निश्चय-व्यवहार को दूसरी तरह से समझाइये ?

उत्तर - (1) जीव का विकारीभाव, व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से निश्चय है; कर्मादि परद्रव्य, व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से व्यवहार है।

(2) निर्मलपरिणति, व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से निश्चय है; जीव का विकारीभाव, व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से व्यवहार है।

(3) अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव, व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से निश्चय है; निर्मल परिणति, व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से व्यवहार है।

इसी प्रकार अभेद-भेद; अनुपचार-उपचार, भूतार्थ-अभूतार्थ और मुख्य-गौण पर लगाना चाहिए। ध्यान रहे - अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव के सामने सब व्यवहार है।

प्रश्न 4- तीनों प्रकार के निश्चय-व्यवहार को समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर - शास्त्रों में चार अनुयोगरूप कथन है। चारों अनुयोगों में जहाँ, जैसा, जिस अपेक्षा कथन किया है, वैसा जानकर अपने में वीतरागता प्रगट करना, चारों अनुयोगों का तात्पर्य है। सर्वज्ञ की वाणी का तात्पर्य, एकमात्र वीतरागता ही है।

प्रश्न 5- विकारीपर्याय को स्वाश्रित निश्चय क्यों कहा है ?

उत्तर - (1) जो जीव, रागादि को पर का मानकर, स्वच्छन्द होकर निरुद्यमी होता है, उसे क्षणिक उपादान की मुख्यता से रागादि आत्मा के हैं—ऐसा ज्ञान कराया है।

(2) रागादि मेरी पर्याय में मेरे अपराध से हैं - ऐसा जानकर स्वभाव का आश्रय लेकर, राग का अभाव करे; इसलिए विकारीपर्याय को स्वाश्रित निश्चय कहा है। यह अशुद्ध निश्चयनय से कहा है।

प्रश्न 6- निर्मलपर्याय को निश्चय क्यों कहा है ?

उत्तर - निर्मलपर्यायें प्रकट करने योग्य है; अतः निश्चय कहा है।

प्रश्न 7- अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को निश्चय क्यों कहा है ?

उत्तर - अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव, आश्रय करने योग्य है; अतः निश्चय कहा है, क्योंकि इसी के आश्रय से धर्म की प्राप्ति, वृद्धि और पूर्णता होती है।

प्रश्न 8- (1) विकारीभाव, (2) शुद्ध निर्मलपर्याय, और (3) अखण्ड त्रिकाली, ज्ञायकस्वभाव, तीनों को निश्चय कहा, इससे अज्ञानी को भ्रमणा होती है ?

उत्तर - वास्तव में इससे तो अज्ञानी को भ्रमणा का अभाव होता है, क्योंकि जहाँ शास्त्रों में (1) विकारीभाव को निश्चय कहा है, वहाँ यह जानना कि आचार्य भगवान, दोष का ज्ञान कराना चाहते हैं और जो जीव ऐसा मानता है कि रागादिक, कर्म ही कराता है, उसकी ऐसी बुद्धि छुड़ाने के लिए विकारीभाव को निश्चय कहा है।

(2) शुद्ध निर्मलपर्याय प्रगट करने योग्य है; शुभभाव नहीं - इस अपेक्षा शुद्ध निर्मलपर्याय को निश्चय कहा है।

(3) त्रिकाली अखण्ड ज्ञायकस्वभाव ही एकमात्र आश्रय करने योग्य है। तू उसका आश्रय ले, तो तेरा भला होगा; इसलिए उसे निश्चय कहा है।

प्रश्न 9- रागादि को परभाव क्यों कहा है ?

उत्तर - रागादि, पर के आश्रय से होता है; इसलिए रागादि को परभाव कहा है।

प्रश्न 10- निश्चय-व्यवहार के विषय में क्या ध्यान रखना चाहिए ?

उत्तर – (1) निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और व्यवहार से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना, क्योंकि जिनेन्द्रभगवान ने सम्पूर्ण व्यवहार का त्याग कराया है।

प्रश्न 11– व्यवहार के श्रद्धान से मिथ्यात्व क्यों है ?

उत्तर – व्यवहारनय = स्वद्रव्य–परद्रव्य को, स्वद्रव्य के भावों और परद्रव्य के भावों को, तथा कारण–कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना।

प्रश्न 12– निश्चय के श्रद्धान से सम्यक्त्व क्यों है ?

उत्तर – निश्चयनय = स्वद्रव्य–परद्रव्य को, स्वद्रव्य के भावों और परद्रव्य के भावों को, तथा कारण–कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण नहीं करता, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना।

प्रश्न 13– आप कहते हो कि, व्यवहारनय का त्याग करना और निश्चयनय का श्रद्धान करना, परन्तु जिनमार्ग में दोनों नयों को ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

उत्तर – जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' — ऐसा जानना तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' — ऐसा जानना; इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है।

प्रश्न 14– कुछ मनीषी ऐसा कहते हैं 'ऐसे भी है, और ऐसे भी है' इसलिए हमें दोनों नयों का ग्रहण करना चाहिए, क्या यह गलत है ?

उत्तर – बिल्कुल गलत है, उन्हें जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पता नहीं है। दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' — इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्न 15– व्यवहार असत्यार्थ है तो जिनमार्ग में उसका उपदेश क्यों दिया; एकमात्र निश्चयनय का ही निरूपण करना चाहिए था?

उत्तर – ऐसा ही तर्क समयसार में किया है, वहाँ उत्तर दिया है कि – जैसे, किसी अनार्य म्लेच्छ को म्लेच्छभाषा के बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है; इसलिए व्यवहार का उपदेश है। इस प्रकार निश्चय को अङ्गीकार कराने के लिए व्यवहार के द्वारा उपदेश देते हैं परन्तु व्यवहारनय है, वह अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।

प्रश्न 16– समयसार, गाथा 11 में भूतार्थ-अभूतार्थ किसे बताया है?

उत्तर –

व्यवहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्मस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥11॥

अर्थ – व्यवहारनय, अभूतार्थ है और शुद्धनय, भूतार्थ है – ऐसा ऋषीश्वरों ने बताया है। जो जीव, भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव वास्तव में सम्यग्दृष्टि है।

प्रश्न 17– ऋषिश्वरों ने क्या बताया है?

उत्तर – व्यवहारनय सब ही झूठा है, इसलिए वह अविद्यमान असत्य, अभूत अर्थ को प्रगट करता है; शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से विद्यमान, सत्यभूत अर्थ को प्रगट करता है।

प्रश्न 18- क्या व्यवहारनय है ही नहीं ?

उत्तर - व्यवहारनय है, उसका विषय भी है, परन्तु व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं हैं।

प्रश्न 19- व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य क्यों नहीं है और निश्चय अनुसरण करने योग्य क्यों है ? इसको (1) स्वद्रव्य -परद्रव्य में; (2) स्वद्रव्य के भावों-परद्रव्य के भावों में (3) कारण-कार्य में लगाकर समझाओ।

उत्तर - (1) व्यवहारनय = स्वद्रव्य और परद्रव्य को, किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना चाहिए। **निश्चयनय**= स्वद्रव्य और परद्रव्य को, किसी को किसी में मिलाकर निरूपण नहीं करता, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका ग्रहण करना चाहिए। अतः निश्चनय का निश्चयरूप और व्यवहारनय का व्यवहाररूप श्रद्धान करने योग्य है।

(2) व्यवहारनय = स्वद्रव्यों के भावों को और परद्रव्य के भावों को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना चाहिए। **निश्चयनय** = स्वद्रव्य के भावों को और परद्रव्य के भावों को, किसी को किसी में मिलाकर निरूपण नहीं करता, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका ग्रहण करना चाहिए; अतः निश्चयनय का निश्चयरूप और व्यवहारनय का व्यवहाररूप श्रद्धान करने योग्य हैं।

(3) व्यवहारनय = कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना चाहिए। **निश्चयनय** = कारण -कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण नहीं करता

है, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका ग्रहण करना चाहिए; अतः निश्चयनय का निश्चयरूप और व्यवहारनय का व्यवहाररूप श्रद्धान करने योग्य है।

प्रश्न 20- एक द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना, सो निश्चयनय है और उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना, सो व्यवहार है। इस बात को दृष्टान्त देकर समझाइये ?

उत्तर - जैसे, मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा निरूपित किया जाये तो निश्चय और घृत संयोग के कारण, उपचार से उसी को घृत का घड़ा कहा जाये, सो व्यवहार है। इसी प्रकार 18 दृष्टान्त देकर समझाया जाता है।

(1) शुभभावों को आस्रव-बन्ध कहना, निश्चय है और भूमिकानुसार शुभभावों को मोक्षमार्ग कहना, व्यवहार है।

(2) जीव को जीव कहना, निश्चय है और जीव को इन्द्रियवाला कहना, व्यवहार है।

(३) देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा को बन्धमार्ग कहना, निश्चय है और देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहना, व्यवहार है।

(4) अणुव्रतादि के भाव को बन्धरूप कहना, निश्चय है और ज्ञानी के अणुव्रतादि के भाव को श्रावकपना कहना, व्यवहार है।

(5) महाव्रतादि के राग को बन्धरूप कहना, निश्चय है और भावलिङ्गी मुनि के महाव्रतादि को मुनिपना कहना, व्यवहार है।

(6) लोटे को पीतल का कहना, निश्चय है और लोटे को पानी का कहना, यह व्यवहार है।

(7) रोटी आटे से बनी, यह निश्चय और रोटी बाई ने बनायी, यह व्यवहार कथन है।

(8) केवलज्ञान, ज्ञानगुण में से हुआ, यह निश्चय है और केवलज्ञान, ज्ञानावरणीय के अभाव से हुआ, यह व्यवहार कथन है।

(9) वीर्य का क्षायिकपना वीर्यगुण में से हुआ, यह निश्चय है और वीर्य का क्षायिकपना अन्तरायकर्म के क्षय से हुआ, यह व्यवहार कथन है।

(10) ज्ञान का क्षयोपशम, ज्ञान से हुआ, यह निश्चय है और ज्ञान का क्षयोपशम, ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से हुआ, यह व्यवहार कथन है।

(11) कपड़े अपने से धुले, यह निश्चय है और कपड़े बाई ने धोये, यह व्यवहार कथन है।

(12) जीव अपनी क्रियावतीशक्ति से चला, यह निश्चय है और जीव, धर्मद्रव्य से चला, यह व्यवहार कथन है।

(13) चश्मा अपनी योग्यता से उठा, यह निश्चय है और चश्मे को मैंने उठाया, यह व्यवहार कथन है।

(14) अभेद आत्मा को आत्मा कहना, निश्चय है और ज्ञान -दर्शन-चारित्र को आत्मा कहना, व्यवहार है।

(15) श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय प्रगटी, उसे सम्यग्दर्शन कहना, निश्चय है और देव-गुरु-शास्त्र के राग को सम्यग्दर्शन कहना, व्यवहार कथन है।

(16) देशचारित्र को श्रावकपना कहना, निश्चय है और बारह अणुव्रतादिक को श्रावकपना कहना, व्यवहार कथन है।

(17) तीन चौकड़ी के अभावरूप शुद्धि को मुनिपना कहना, निश्चय है और अट्ठाईस मूलगुण के राग को मुनिपना कहना, व्यवहार कथन है।

(18) राग को आत्मा का कहना, निश्चय है और राग को कर्म का कहना, व्यवहार कथन है।

इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना चाहिए। व्यवहार का अर्थ – 'ऐसा है नहीं, यह निमित्तादि की अपेक्षा कथन है' – ऐसा ध्यान में रखना चाहिए।

प्रश्न 21– ग्यारहवीं गाथा में किस व्यवहार को अभूतार्थ कहा है और वहाँ किस व्यवहार की बात ही नहीं है?

उत्तर – ग्यारहवीं गाथा में अध्यात्म का जो चार प्रकार का व्यवहार है, उसे अभूतार्थ कहा है। आगम के व्यवहार की बात 11वीं गाथा में नहीं है। जब अध्यात्म के व्यवहार का निषेध है, तब आगम के व्यवहार की कौन बात है? अर्थात्, कुछ भी नहीं।

प्रश्न 22– चार प्रकार के आगम का व्यवहार कौन-कौन सा है?

उत्तर – **(1) उपचरितसद्भूतव्यवहारनय** — जो उपाधिसहित गुण–गुणी को भेदरूप से ग्रहण करे। जैसे—संसारी जीव के मतिज्ञानादि पर्याय और नर–नारकादि पर्यायें। (विकारीपर्यायों को जीव की कहना)

(2) अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय — जो निरुपाधिक गुण और गुणी को भेदरूप ग्रहण करे। जैसे – केवलज्ञान, केवलदर्शन। (शुद्धपर्याय को जीव की कहना)।

(3) उपचरितअसद्भूतव्यवहानय — अत्यन्त भिन्न पदार्थों को जो अभेदरूप से ग्रहण करे। जैसे—जीव को महल, घोड़ा, वस्त्रादि कहना। (अत्यन्त भिन्न परपदार्थों को जीव का कहना)

(4) अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय — जो नय, संयोग सम्बन्ध से युक्त दो पदार्थों के सम्बन्ध को विषय बनाये। जैसे — जीव का शरीर, जीव का कर्म आदि कथन। (एक क्षेत्रावगाही शरीर और कर्म को आत्मा का कहना)

11वीं गाथा में इस आगम के व्यवहार की तो बात ही नहीं है।

प्रश्न 23– चार प्रकार का आगम का व्यवहार, कब और किसको लागू पड़ता है ?

उत्तर – एकमात्र अपना अनुभव–ज्ञान होने पर, साधक जीवों को ही लागू पड़ता है और मिथ्यादृष्टि और केवली को लागू नहीं पड़ता है।

प्रश्न 24– चार प्रकार के अध्यात्म का व्यवहार, कौन –कौन सा है ?

उत्तर – **(1) उपचरितसद्भूतव्यवहारनय** — 'ज्ञान, पर को जानता है', अथवा ज्ञान में राग ज्ञात होने से 'राग का ज्ञान है' – ऐसा कहना अथवा ज्ञातास्वभाव के भानपूर्वक ज्ञानी 'विकार को भी जानता है' ऐसा कहना।

(2) अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय — ज्ञान और आत्मा इत्यादि गुण–गुणी का भेद करना।

(3) उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय — साधक ऐसा जानता है कि मेरी पर्याय में विकार होता है। उसमें जो व्यक्त राग–बुद्धिपूर्वक राग, प्रगट ख्याल में लिया जा सकता है – ऐसे राग को आत्मा का कहना।

(4) अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय — जिस समय बुद्धिपूर्वक राग है, उस समय अपने ख्याल में न आ सके – ऐसा अबुद्धिपूर्वक राग भी है, उसे जानना।

प्रश्न 25– चार प्रकार का अध्यात्म का व्यवहार कब और किसको लागू पड़ता है ?

उत्तर – एकमात्र साधक जीवों को ही लागू पड़ता है; मिथ्यादृष्टि और केवली को लागू नहीं पड़ता है।

प्रश्न 26– उपचरित सद्भूत व्यवहारनय का पृथक्-पृथक् अर्थ करो ?

उत्तर – (1) पर का उपचार आता है; इसलिए **उपचरित** कहा है।

(2) अपने में होता है; इसलिए **सद्भूत** कहा है।

(3) भेद पड़ता है; इसलिए **व्यवहार** कहा है।

(4) श्रुतज्ञान का अंश है; इसलिए **नय** कहा है।

प्रश्न 27– अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का पृथक्-पृथक् अर्थ करो ?

उत्तर – (1) पर का उपचार नहीं आता है; इसलिए **अनुपचरित** कहा है।

(2) अपना नहीं है; इसलिए **असद्भूत** कहा है।

(3) भेद पड़ता है; इसलिए **व्यवहार** कहा है।

(4) श्रुतज्ञान का अंश है; इसलिए **नय** कहा है।

प्रश्न 28– चार प्रकार के अध्यात्म के व्यवहार को भी झूठा क्यों कहा है ?

उत्तर – भेददृष्टि में निर्विकल्पदशा नहीं होती और सरागी को विकल्प बना रहता है; इसलिए जहाँ तक रागादिक दूर न हों, वहाँ तक भेद को गौण करके, अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है। इस अपेक्षा अध्यात्म के व्यवहार को झूठा कहा है।

[श्रीसमयसार, गाथा 7 के भावार्थ में से]

प्रश्न 29– क्या व्यवहार सर्वथा असत्यार्थ है ?

उत्तर – व्यवहार को असत्यार्थ कहा था, वहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वह सर्वथा असत्यार्थ है, किन्तु कथचित् असत्यार्थ जानना चाहिए, क्योंकि जब एक द्रव्य को भिन्न स्वपर्यायों से अभेदरूप,

उसके असाधारण गुणमात्र को प्रधान करके कहा जाये, तब परस्पर द्रव्यों का निमित्त–नैमित्तिकभाव तथा निमित्त से होनेवाली पर्यायें, वे सब गौण हो जाते हैं। अभेदद्रव्य की दृष्टि में वे प्रतिभासित नहीं होते, इसलिए वे सब उस द्रव्य में नहीं हैं – ऐसा कथञ्चित निषेध किया जाता है। यदि उन भावों को उस द्रव्य में कहा जावे तो व्यवहारनय से कहा जा सकता है। *[श्रीसमयसार, गाथा 11 में]*

प्रश्न 30– किस दृष्टि से व्यवहारनय सत्यार्थ है ?

उत्तर – यह निमित्त–नैमित्तिकभाव की दृष्टि से देखा जावे तो व्यवहारनय कथञ्चित सत्यार्थ भी कहा जा सकता है। यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जावे तो सर्व व्यवहार का लोप हो जावेगा और व्ययवहार को लोप होने से परमार्थ का भी लोप हो जावेगा। इसलिए जिनदेव का स्याद्वादरूप उपदेश समझने से ही सम्यक्ज्ञान है; सर्वथा एकान्त मिथ्यात्व है। *[श्रीसमयसार, गाथा 58 से 60 में से]*

प्रश्न 31– व्यवहारनय के त्याग का उपदेश क्यों दिया ?

उत्तर – निश्चयनय को प्रधान कहकर, व्यवहारनय के त्याग का उपदेश किया है क्योंकि श्रीसमयसार, गाथा 272 में कहा है कि निश्चयनय के आश्रय से वर्तते हैं, वे ही कर्मों से मुक्त होते हैं और जो एकान्त व्यवहार के ही आश्रय से वर्तते हैं, वे कभी कर्मों से नहीं छूटते; इसलिए व्यवहारनय है, उसका विषय भी है किन्तु उसके आश्रय से कभी धर्म की प्राप्ति, वृद्धि और पूर्णता नही होती, बल्कि उसके आश्रय से संसार परिभ्रमण होता है; इसलिए व्यवहारनय के त्याग का उपदेश दिया है।

प्रश्न 32– व्यवहार का फल क्या है ?

उत्तर – प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से ही है, उसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं; जिनवाणी में भी व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्बन

जानकर बहुत किया है, किन्तु उसका फल संसार ही है। देखो! भगवान का कहा हुआ व्यवहार, नववें ग्रैवेयक तक ले जाता है, किन्तु उसका संसार बना रहता है—उसका दृष्टान्त द्रव्यलिङ्गी मुनि है।

प्रश्न 33- निश्चय का फल क्या है?

उत्तर - शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं, उसका उपदेश भी विरल है, वह कहीं-कहीं पाया जाता है; इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल, मोक्ष जानकर, उसका उपदेश प्रधानता से दिया है। देखो, भगवान का कहा हुआ निश्चय, शुभ -अशुभ दोनों से बचाकर, जीव को शुद्धभाव में-मोक्ष में ले जाता है, उसका दृष्टान्त सम्यग्दृष्टि है कि जो नियम से मोक्ष प्राप्त करता है।

प्रश्न 34- संक्षेप में ग्यारहवीं गाथा का भाव क्या रहा?

उत्तर - देखो! संसार में चार प्रकार का अस्तित्व है।

(1) परद्रव्य का अस्तित्त्व—अपनी आत्मा के अलावा अनन्त आत्माएँ अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य धर्म, अधर्म आकाश एक-एक, लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य हैं, इतना परद्रव्य का अस्तित्व है।

(2) विकारीपर्यायों का अस्तित्व—शुभाशुभविकारीभाव का अस्तित्व है।

(3) अपूर्ण-पूर्ण शुद्धपर्यायों का अस्तित्व है।

(4) त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का अस्तित्व है।

अब जिसको अपना भला करना हो, वह तीन प्रकार के अस्तित्व से अपना ध्यान हटाकर, चौथे प्रकार का अस्तित्व स्वयं है, उस पर दृष्टि देवे, तो ही धर्म की शुरुआत, वृद्धि और पूर्णता होकर मुक्तिरूपी लक्ष्मी का नाथ बनता है। 11वीं गाथा जैनदर्शन का प्राण है। यदि कुन्दकुन्द भगवान की आज्ञा माने तो तुरन्त धर्म की प्राप्ति हो और अनन्त काल का संसार -परिभ्रमण अल्प काल में नाश हो जावे;

अतः अपने त्रिकालीस्वभाव के आश्रय से ही धर्म की प्राप्ति, वृद्धि और पूर्णता होती है।

प्रश्न 35– यदि पञ्च परमेष्ठियों के आश्रय से अथवा दया, दान, पूजा, अणुव्रत, महाव्रतादि के आश्रय से धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती तो क्या हम जो व्रतादि करते हैं, वे व्यर्थ ही हैं ?

उत्तर – अनादि काल से अज्ञानी जीव अनन्त बार दिगम्बर जैन द्रव्यलिङ्गी मुनि बना और शुक्ललेश्या का शुभभाव अनन्त बार किया परन्तु संसार का ही पात्र रहा। प्रवचनसार में द्रव्यलिङ्गी मुनि को संसारतत्त्व कहा है। इसलिए तीन काल–तीन लोक में कभी भी भगवान के आश्रय से, अणुव्रत–महाव्रतादि के आश्रय से धर्म की प्राप्ति नहीं होती है; एकमात्र अपने त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से धर्म की शुरूआत, वृद्धि और पूर्णता होती है — ऐसा चारों अनुयोगों में समस्त भगवन्तों ने कहा है। यही बात भगवानकुन्दकुन्द ने 11वीं गाथा में बतायी है। इसलिए हे आत्मा! तू अपने आत्मा को दुःख समुद्र में नहीं डुबाना चाहता, तो एक बार अपने भगवान का आश्रय ले, तो देख! जीवन में अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होगी, फिर तुझे किसी से पूछना नहीं पड़ेगा।

प्रश्न 36– दो द्रव्यों की पर्यायों में जो व्यवहार कहा जाता है, वह किस प्रकार है ?

उत्तर – जीव–पुद्गल के गति, स्थिति, अवगाहन, परिणमन आदि कार्यों में जो धर्म–अधर्म–आकाश और कालद्रव्य का गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व और परिणमनहेतुत्व का जो कथन आता है, वह सब व्यवहार कथन ही है। इस व्यवहार कथन का अर्थ मात्र इतना ही है कि जीव–पुद्गल अपने गति, स्थिति आदि कार्यों को तो स्वयं अपनी–अपनी स्वतन्त्र उस समय पर्याय की क्षणिक योग्यता से ही करते हैं, तब धर्म–अधर्म–आकाश और काल की

उपस्थितिमात्र है। जैसे – हमारे चलने में सड़क की उपस्थितिमात्र है; उसी प्रकार जीव और पुद्गल के गति स्थिति आदि में धर्म-अधर्मद्रव्यों की उपस्थितिमात्र है।

प्रश्न 37– कुछ मनीषी, पुद्गल और जीव की गति-स्थिति आदि कार्यों का कर्ता धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों को ही कहते हैं और ऐसा ही उपदेश करते हैं – क्या वे गलत हैं?

उत्तर – बिल्कुल गलत हैं। वे मनीषी, दो द्रव्यों की कर्ता-कर्मरूप एकत्वबुद्धि की पुष्टि करके मिथ्यात्व का पोषण कर निगोद के पात्र बनते हैं और उनकी बात माननेवाले भी गृहीतमिथ्यात्व की पुष्टि कर निगोद में चले जाते हैं क्योंकि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की विराधना का फल, निगोद है।

प्रश्न 38– कुछ मनीषी, धर्म-अधर्म-आकाश और काल द्रव्यों को मानते ही नहीं हैं – क्या यह ठीक है?

उत्तर – बिल्कुल गलत है। जो मनीषी, धर्मादि द्रव्यों को नहीं मानते हैं, वे निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का लोप करनेवाले एकान्ती हैं और निगोद के पात्र हैं क्योंकि भगवान की वाणी में आया है कि 'जहाँ उपादान होता है, वहाँ निमित्त होता ही है' – ऐसा वस्तु स्वभाव है।

प्रश्न 39– (1) मोहनीयकर्म के उदय से राग उत्पन्न होता है, (2) जीव के राग करने से मोहनीयकर्म उत्पन्न होता है, (3) ज्ञानावरणीय, ज्ञान को रोकता है, (4) दर्शनमोहनीय, सम्यक्त्व नहीं होने देता, (5) जीवों का मरना-जीना, सुख-दुःख पुद्गलों का उपकार है, (6) जीवों ने कर्म किये—जीवों ने कर्मों को भोगा, (7) जीव बोलता है, (8) आत्मा ने शरीर को चलाया या शरीर ने आत्मा को चलाया, (9) जीव ने दूसरे जीवों की रक्षा की या मारा, (10) सैनी जीव है, असैनी

जीव है, इन्द्रियोंवाला जीव है आदि कथन शास्त्रों में आते हैं - इनसे क्या समझना चाहिए ?

उत्तर - यह सब निमित्त की अपेक्षा कथन किया है, यह असत्यार्थ कथन है - ऐसा जानकर असत्यार्थ कथन का श्रद्धान छोड़ना। इस प्रकार व्यवहार के कथन का, ऐसा का ऐसा श्रद्धान करने से मिथ्यात्व की पुष्टि होती है, क्योंकि शास्त्रों में इनका तात्पर्य मात्र धर्मद्रव्य के समान उपस्थितिमात्र है - ऐसा बताना है।

(2) जो जीव, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यों के साथ कर्ता - कर्म सम्बन्ध मानता है, वह द्विक्रियावादी-जिनमत से बाहर है; इसलिए पात्र जीवों को दो द्रव्यों की एकताबुद्धि छोड़कर, अपने स्वभाव का आश्रय लेकर, अपना कल्याण करना चाहिए।

प्रश्न 40- गुरुगम बिना, अपनी खोटी मान्यता से जिनवाणी को सुना और मान लिया कि - विकार, पुद्गल का कार्य है; हमारा कल्याण जब होना होगा, तब होगा अशुभभाव आना है तो आवेगा — हम क्या करें; ऐसी मान्यतावाला जीव कैसा है ?

उत्तर - (1) वीतराग का मार्ग, स्वच्छन्द होने के लिए नहीं है। जो जीव, वीतराग की बात सुनकर उससे उल्टा अर्थ निकालता है, वह निगोद का पात्र है। जबकि वर्तमान में बड़े भाग्य से शुभाशुभभावरहित, वीतरागता प्रगट करने का समय आया है, उसके बदले कहे अशुभभाव का भी तो समय आया है — ऐसी मान्यतावाला जिनवाणी सुनने के अयोग्य हैं।

(2) जैसे — जिसको सोने की पहिचान हो गयी, वह 14 कैरेट आदि कह सकता है; उसी प्रकार जिसे अपने स्वभाव का आश्रय लेकर अनुभव-ज्ञान प्राप्त हो गया है, वह ही कह सकता है कि जिस समय जो होना होगा, वही होगा; मिथ्यादृष्टि का ऐसा कहना असत्य है।

(3) श्रीसमयसार के बन्ध अधिकार में आया है कि कोई जीव,

किसी अन्य जीव को मार जिला नहीं सकता और सुख-दुःख नहीं दे सकता - ऐसा सुनकर, अज्ञानी श्रीसमयसार की आड़ लेकर, दूसरे जीवों को मारे और दुःखी करे और कहे समयसार में लिखा है कोई किसी को मार-जिला नहीं कर सकता। अरे भाई! ऐसी स्वच्छन्दता का सेवन करके तू मर जावेगा। समयसार कच्चा पारा है। यदि हजम हो जावे तो अमर हो जावेगा और यदि हजम न हुआ, फूट-फूट कर रोयगा। इसलिए याद रख! श्रीसमयसार का कथन जब तुझे कोई मारे, तुझे दुःखी करे, तब याद कर कि भगवान ने समयसार में ऐसा कहा है। अज्ञानी जीव, समयसार की आड़ में मिथ्यात्व की पुष्टि करता है।

(4) जैसे, एक आदमी ने 'बुलट प्रूफ कोट' अर्थात्, जिस कोट में गोली न लगे, ऐसा कोट तैयार किया। वह फौज के कप्तान के पास गया कि 'बुलट प्रूफ कोट' का आर्डर दो। उसने कहा, ठीक है, आप इसे पहिनो। कप्तान अन्दर जाकर पिस्तौल लाया, तो देखा वह आदमी नौ दो ग्यारह हो गया; उसी प्रकार जिनवाणी में जो कथन है, वह अपने लिए ही हैं। ऐसा जानकर उन प्रकारों को पहिचानकर, अपने में ऐसा दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक्श्रद्धानी होना, औरों के ही दोष देख-देखकर, कषायी मत होना क्योंकि अपना बुरा-भला अपने परिणामों से है औरों को रुचिवान देखे, तो कुछ उपदेश देकर उनका भी भला करे। इसलिए अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है। सर्व प्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर, सम्यग्दृष्टि होना योग्य है क्योंकि संसार का मूल, मिथ्यात्व है और धर्म का मूल, सम्यक्त्व है।

(5) जैसे, रोजनामचे में अनेक रकमें जहाँ-तहाँ लिखी है, उनकी खाते में ठीक खतौनी करे तो लेने-देने का निश्चय हो; उसी प्रकार

शास्त्रों में तो अनेक प्रकार का उपदेश जहाँ-तहाँ दिया है; उसे सम्यग्ज्ञान में यथार्थ प्रयोजनसहित पहिचाने, तो हित-अहित का निश्चय हो। इसलिए स्यात्पद की सापेक्षतासहित सम्यग्ज्ञान द्वारा जो जीव, जिनवचनों में रमते हैं, वे जीव ही शीघ्र शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं। मोक्षमार्ग में पहला उपाय, आगमज्ञान कहा है। आगमज्ञान बिना, धर्म का साधन नहीं हो सकता; इसलिए तुम्हें भी यथार्थबुद्धि द्वारा आगम का अभ्यास करना, तुम्हारा कल्याण होगा। *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 304]*

प्रश्न 41- जो व्यवहारकथन को ही सच्चा मानता है, उसे शास्त्रों में किस-किस नाम से सम्बोधन किया है ?

उत्तर - (1) श्रीसमयसार-नाटक में 'मूर्ख' कहा है।

(2) आचार्यकल्प टोडरमलजी ने 'अनीति' आदि कहा है।

(3) श्रीआत्मावलोकन में 'हरामजादीपना' कहा है।

(4) श्रीसमयसार, कलश 55 में 'अज्ञानमोह अन्धकार' कहा है।

(5) श्रीप्रवचनसार में 'पद-पद पर धोखा खाता है' — ऐसा कहा है

(6) श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में 'तस्य देशना नास्ति' कहा है।

(7) मोक्षमार्गप्रकाशक में 'उसके धर्म के सब अङ्ग मिथ्यात्वभाव को प्राप्त होते हैं' — कहा है।

(8) श्रीसमयसार, गाथा 11 के भावार्थ में 'उसका फल संसार' है।

चारों अनुयोगों में व्यवहार के कथन को सच्चा माननेवालों को चारों गतियों में घूमकर निगोद में जानेवाला कहा है क्योंकि व्यवहार, निश्चय का प्रतिपादक है; इसके बदले उसको सच्चा मान लेता है, वह मिथ्यात्व है।

प्रश्न 42- शास्त्रों में दो द्रव्यों की पर्यायों में निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध बताने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर - विश्व की रचना इस प्रकार है, अर्थात् वस्तुस्वभाव है कि जहाँ उपादान होता है, वहाँ निमित्त होता ही है; उसको दूर करना असम्भव है।

प्रश्न 43- दो द्रव्यों की पर्यायों में निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर - पात्र जीव, भिन्न-भिन्न चतुष्टय का भान करके भेदविज्ञानी बनकर वीतरागी बनता है और अज्ञानी, एकत्वबुद्धि करके और मिथ्यात्व की पुष्टि करके, चारों गतियों का पात्र बनता है।

प्रश्न 44- जहाँ प्रत्येक द्रव्य का स्वचतुष्ट्य भिन्न-भिन्न दिखाना हो, वहाँ क्या जानना चाहिए ?

उत्तर - जहाँ प्रत्येक द्रव्य का स्वचतुष्टय भिन्न-भिन्न दिखाना हो, वहाँ पर निश्चय ही प्रयुक्त होता है। स्वचतुष्ट्य की दृष्टि से औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभावों का कर्ता निश्चय से जीव ही है। कर्मों के उदय-उपशम-क्षय आदि का कर्ता निश्चय से पुद्गल ही है। यहाँ पर ध्रुवस्वभाव तथा पर्याय चाहे विकारी हो या अविकारी हो, दोनों निश्चय हैं - इस अपेक्षा से रागादि जीव का कार्य है। जब दो द्रव्यों को अलग बताना हो तो जीव के विकारीभावों को भी, उसकी पर्याय में उत्पन्न होने की अपेक्षा स्वाश्रित निश्चय कहा है; परद्रव्य को पराश्रित व्यवहार कहा है।

प्रश्न 45- दो द्रव्यों के स्वचतुष्टय जानने से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर - प्रत्येक वस्तु का कर्ता-कर्म अनादि से अनन्त काल तक स्वतन्त्ररूप से दिखाना, यह प्रयोजन है। अपने विभावभावों का

कर्ता जो जीव, पुद्गल को मानता था, वह बुद्धि छूटकर, अपने विभावभावों का कर्ता मैं हूँ — ऐसा जानकर, भव्यजीव अपने स्वभाव का आश्रय लेकर, उसका अभाव कर देता है। यहाँ पर शुभाशुभभाव सब पर्यायों को 'स्वाश्रितो निश्चय' और परद्रव्य को 'पराश्रितो व्यवहार' कहा है।

प्रश्न 46– शास्त्रों में, जो आत्मा के आश्रय से शुद्धभाव प्रगट हुआ, उसे निश्चय कहा है और शुद्ध के साथ शुभ अंश को व्यवहार कहा है, उससे क्या प्रयोजन और लाभ है?

उत्तर – यहाँ पर मोक्षमार्ग दिखलाना है। जिसके प्रगट होने से धर्म की शुरूआत, वृद्धि होती है। मोक्षमार्ग होने पर, शुद्धभाव को 'स्वाश्रितो निश्चय' कहते है और भूमिकानुसार राग को 'पराश्रितो व्यवहार' कहते हैं। यहाँ पर शुभभावों को व्यवहार कहा है। शुद्धभाव को निश्चय कहने का प्रयोजन यह है कि शुद्धभाव ही मोक्षमार्ग है, धर्म है। शुभभाव को व्यवहार कहने का प्रयोजन यह है कि सच्चे देव–गुरु–शास्त्र का राग, अणुव्रत, महाव्रतादि का राग, दया–दान –पूजा आदि का भाव, मोक्षमार्ग नहीं है; बन्धभाव है। लाभ — ज्ञानी जानता है कि प्रगट करने योग्य वीतरागभाव से मेरा हित है, यह प्रगट करने योग्य उपादेय है और जो राग है, वह अहितरूप हेय है।

प्रश्न 47– कुछ मनीषी, दया–दान–पूजा अणुव्रत–महाव्रतादि से परम्परा मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं – क्या यह बात झूठ है?

उत्तर – बिल्कुल झूठ है क्योंकि अनादि से तीर्थङ्करादि, गणधर आदि ने शुभभावों को बन्ध का और दुःख का कारण कहा है। जो शुभभावों से मोक्षमार्ग या मोक्ष मानते हैं, वे सब जीव, निगोद के पात्र हैं।

प्रश्न 48– शुभभाव को बन्ध का कारण और दुःख का कारण शास्त्रों में कहाँ कहा है ?

उत्तर – श्रीसमयसार, गाथा 72 तथा 74 में शुभभावों को अपवित्र, जड़स्वभावी, दुःख का कारण तथा बन्ध का कारण, अध्रुव, अनित्य, अशरण, वर्तमान में दुःखरूप और भविष्य में भी दुःख फलरूप कहा है। शुभभाव को मोक्ष का घातक कहा है, दुष्ट-अनिष्ट भी कहा है। अज्ञानी के शुभभाव को तो वास्तव में शुभभाव भी नहीं कहा जाता है, क्योंकि मिथ्यात्व का महान पाप उसके साथ है।

प्रश्न 49– एकमात्र त्रिकाली ध्रुवस्वभाव, स्वाश्रित निश्चय और शुद्धपर्याय चाहे पूर्ण हो या अपूर्ण, सब का 'पराश्रित व्यवहार' ऐसा क्यों कहा है ?

उत्तर – (1) जिस जीव को अपना कल्याण करना हो, उस जीव को सामान्य ध्रुवस्वभाव, जिसे पारिणामिक जीवत्वभाव आदि नामों से कहते हैं, वह मात्र निश्चय है क्योंकि इसी के आश्रय से धर्म की शुरुआत, वृद्धि और पूर्णता होती है।

(2) औपशमिक, क्षायिक, धर्म का क्षायोपशमिकभाव भी व्यवहार है क्योंकि त्रिकाली की अपेक्षा शुद्धपर्याय को भी पराश्रित व्यवहार कहा है।

(3) ज्ञानियों को मात्र द्रव्यस्वभाव ही सदा मुख्य रहता है; पर्यायधर्म सदा गौण ही रहता है क्योंकि साधक, द्रव्यस्वभाव के आश्रय से शुद्धि की वृद्धि करता हुआ, साक्षात् केवली बन जाता है।

(4) निश्चयनय (द्रव्यस्वभाव) और व्यवहारनय (पर्याय-स्वभाव) दोनों जानने योग्य हैं, किन्तु आश्रय करने योग्य एकमात्र निश्चय ही है; व्यवहार कभी भी आश्रय करने योग्य नहीं है, उसे हेय ही समझना। स्वभाव की दृष्टि करना ही मोक्षमार्ग प्राप्त करना और मोक्ष है, क्योंकि उसी के आश्रय से मोक्षमार्ग और मोक्ष प्राप्त होता है।

प्रश्न 50- द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग और मोक्ष प्राप्त होता है, यह कहाँ आया है ?

उत्तर - पूरा नियमसार और समयसार इसके साक्षी हैं।

प्रश्न 51- पाँच बातें कौन-कौनसी याद रखनी चाहिए ?

उत्तर - (1) द्रव्यरूप हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह और द्रव्यरूप अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तो मात्र पुद्गलद्रव्य की स्वतन्त्र क्रियाएँ हैं। नोकर्म-द्रव्यकर्म सब का पुद्गल ही कर्ता है, इनकी क्रियाओं से न पुण्य होता है, न पाप होता है और न धर्म होता है।

(2) हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह का अशुभभाव, पापभाव है और अहिंसा-सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य और परिग्रह का शुभभाव, पुण्यभाव है; धर्म नहीं है।

(3) अज्ञानी का शुभभाव, अनन्त संसार का कारण है क्योंकि वह उसे उपादेय, धर्म का कारण मानता है। ज्ञानी, शुभभाव को हलाहल जहर, हेय मानता है, उसे व्यवहार कहा है।

(4) मोह-क्षोभरहित आत्मा का परिणाम वीतरागभाव, वह धर्म है; उसका फल अतीन्द्रियसुख / मोक्ष है। यह शुद्धभाव एकमात्र अपने आश्रय से ही प्रगट होता है; पर, विकार, शुद्धपर्याय के आश्रय से प्रगट नहीं होता है।

(5) जीव, केवल भाव कर सकता है; पर की क्रिया तो मिथ्यादृष्टि भी नहीं कर सकता है। शुभाशुभभावों तक अज्ञानी की दौड़ है। ज्ञानी की दौड़, शुद्धभाव तक है — ऐसा जानकर अपने स्वभाव का आश्रय लेना ही कल्याणकारी है। ●●

2

उभयाभासी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 248 से 257 के अनुसार]

केऊ नर निहचै करि आतम को शुद्धि मान।
भये हैं स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता॥1॥

केऊ व्यवहार दान शील तप भाव ही को।
आतम को हित जान छाड़त न मुद्धता॥2॥

केऊ नर व्यवहारनय निहचै के मारग।
भिन्न-भिन्न जान यह बात करें उद्धता॥3॥

जब जाने निहचै के भेद व्यवहार सब।
कारन को उपचार माने तब बुद्धता॥4॥

इस भव तरु का मूल इक जानहु मिथ्याभाव।
ताको करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव॥5॥

प्रश्न 1 – निश्चय-व्यवहार को समझने-समझाने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – दु:ख के अभाव और सुख की प्राप्ति के निमित्त, निश्चय-व्यवहार को समझने-समझाने की आवश्यकता है।

प्रश्न 2 – यह सातवाँ अधिकार लिखने का विकल्प किसके निमित्त से आया है?

उत्तर – (1) जो जीव दिगम्बरधर्मी हैं। (2) जिन आज्ञा को

मानते हैं। (3) निरन्तर शास्त्रों का अभ्यास करते हैं। (4) सच्चे देव-गुरु और शास्त्रों को ही मानते हैं; अन्य को नहीं मानते हैं, फिर भी उनके मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता — ऐसे दिगम्बर धर्मियों के मिथ्यात्वादि के अभाव और सम्यक्त्वादि की प्राप्ति के निमित्त, सातवाँ अधिकार लिखने का विकल्प हेयबुद्धि से आया है।

प्रश्न 3 – सातवाँ अधिकार, मात्र दिगम्बर धर्मियों के निमित्त है, अन्य के लिए नहीं — यह बात आपने कहाँ से निकाली ?

उत्तर – पाँचवें अधिकार में श्वेताम्बर, मुँहपट्टी आदि को अन्य मतावलम्बी कहा है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 158]*

प्रश्न 4 – सातवें अधिकार के दोहे में क्या बतलाया है ?

उत्तर – इस भवरूपी वृक्ष का मूल एकमात्र मिथ्यात्वभाव है। उसको निर्मूल करके मोक्ष का उपाय करना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्वभाव, सात व्यसनों से भी भयंकर महापाप है।

प्रश्न 5 – जो जीव, दिगम्बरधर्मी हैं, जिन आज्ञा को मानते हैं, निरन्तर शास्त्रों का अभ्यास करते हैं, सच्चे देवादि को ही मानते हैं, फिर भी उनके मिथ्यात्वादि का अभाव क्यों नहीं होता है ?

उत्तर – जिनआज्ञा किस अपेक्षा से है ? निश्चय-व्यवहार का स्वरूप कैसा है ? सच्चे देवादि क्या कहते हैं ? आदि बातों का यथार्थ ज्ञान न होने से मिथ्यात्वादि का अभाव नहीं होता है।

प्रश्न 6 – हम दिगम्बरधर्मी, अन्य कुगुरु, कुदेव, कुधर्म को मानते ही नहीं हैं क्योंकि हम वीतरागी प्रतिमा को पूजते हैं, अट्ठाईस मूलगुणधारी नग्न दिगम्बर भावलिङ्गी मुनि को पूजते हैं और उनके कहे हुए सच्चे शास्त्रों का अभ्यास करते हैं —तो हम किस प्रकार मिथ्यादृष्टि हैं ?

उत्तर – सत्तास्वरूप में पण्डित भागचन्द्र छाजेड़ ने कहा है कि — दिगम्बर जैन कहते हैं, हम तो सच्चे देवादि को मानते हैं; इसलिए हमारा गृहीतमिथ्यात्व तो छूट गया है। तो उनसे कहते हैं कि नहीं तुम्हारा गृहीतमिथ्यात्व नहीं छूटा है क्योंकि तुम गृहीतमिथ्यात्व को जानते ही नहीं। मात्र अन्य देवादि को मानना ही गृहीतमिथ्यात्व का स्वरूप नहीं है। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा बाह्य में भी, यथार्थ व्यवहार जानकर करना चाहिए। सच्चे व्यवहार को जाने बिना, कोई देवादि की श्रद्धा करे, तो वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न 7– स्थूल मिथ्यात्व, और सूक्ष्म मिथ्यात्व क्या है?

उत्तर – (1) देव–गुरु–शास्त्र के विषय में भूल, स्थूल मिथ्यात्व है। (2) प्रयोजनभूत सात तत्त्वों में विपरीतता, निश्चय–व्यवहार में विपरीतता और चारों अनुयोगों की कथन पद्धति का पता न होना — सूक्ष्म मिथ्यात्व है।

प्रश्न 8 – जिन–आज्ञा किस अपेक्षा से है — इसका ज्ञान करने के लिए क्या जानना आवश्यक है?

उत्तर – निश्चय–व्यवहार का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि जिनागम में निश्चय–व्यवहाररूप वर्णन है।

निश्चय–व्यवहार का स्पष्टीकरण

प्रश्न 9 – निश्चय–व्यवहार का लक्षण क्या है?

उत्तर – यथार्थ (वास्तव) का नाम निश्चय है; उपचार (आरोप) का नाम व्यवहार है।

प्रश्न 10 – यथार्थ का नाम निश्चय; उपचार का नाम व्यवहार; इन्हें किस–किस प्रकार जानना चाहिए?

उत्तर – (अ) जहाँ अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को यथार्थ

का नाम निश्चय कहा हो, वहाँ उसकी अपेक्षा निर्मल शुद्धपरिणति (पर्याय) को उपचार का नाम व्यवहार कहा जाता है। (आ) जहाँ निर्मल शुद्धपरिणति को यथार्थ का नाम निश्चय कहा हो, वहाँ उसकी अपेक्षा भूमिकानुसार शुभभावों को उपचार का नाम व्यवहार कहा जाता है। (इ) जहाँ जीव के विकारीभावों को यथार्थ का नाम निश्चय कहा हो, वहाँ उसकी अपेक्षा द्रव्यकर्म–नोकर्म को उपचार का नाम व्यवहार कहा जाता है।

प्रश्न 11 - शास्त्रों में कहीं — (1) विकारीभावों को यथार्थ का नाम निश्चय; कहीं (2) शुद्धभावों को यथार्थ का नाम निश्चय तथा; कहीं (3) त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को यथार्थ का नाम निश्चय कहा है, और कहीं (1) द्रव्यकर्म-नोकर्म को उपचार का नाम व्यवहार; कहीं (2) शुभभावों को उपचार का नाम व्यवहार तथा; कहीं (3) शुद्धभावों को उपचार का नाम व्यवहार कहा है। इससे तो हमें भ्रान्ति होती है कि किसे निश्चय कहें और किसे व्यवहार कहें ?

उत्तर - अरे! यह भ्रान्ति मिटाने के लिए ही शास्त्रों में वर्णित विभिन्न अपेक्षाओं का ज्ञान कराया है कि किस अपेक्षा यथार्थ का नाम निश्चय कहा है और किस अपेक्षा उपचार का नाम व्यवहार कहा है। यह मर्म समझ ले तो मिथ्यात्वादि का अभाव होकर, धर्म की प्राप्ति हो जाए।

प्रश्न 12 - जीव के विकारीभावों को यथार्थ का नाम निश्चय क्यों कहा है ?

उत्तर - पर्याय में दोष अपने अपराध से है; द्रव्यकर्म–नोकर्म के कारण नहीं है – इसका ज्ञान कराने के लिए शास्त्रों में विकारीभावों को यथार्थ का नाम निश्चय कहा है।

प्रश्न 13 – निर्मल शुद्धपरिणति को यथार्थ का नाम निश्चय क्यों कहा है ?

उत्तर – एकमात्र प्रगट करने योग्य है; इसलिए निर्मल शुद्धपरिणति को यथार्थ का नाम निश्चय कहा है।

प्रश्न 14 – अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को यथार्थ का नाम निश्चय क्यों कहा है ?

उत्तर – एकमात्र आश्रय करने योग्य की अपेक्षा, अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को यथार्थ का नाम निश्चय कहा है, क्योंकि इसी के आश्रय से धर्म की प्राप्ति, वृद्धि और पूर्णता होती है।

प्रश्न 15 – द्रव्यकर्म–नोकर्म को उपचार का नाम व्यवहार क्यों कहा है ?

उत्तर – जब–जब विभावभाव उत्पन्न होते हैं, तब–तब द्रव्यकर्म –नोकर्म निमित्त होता है, इस अपेक्षा द्रव्यकर्म–नोकर्म को उपचार का नाम व्यवहार कहा है।

प्रश्न 16 – भूमिकानुसार शुभभावों को उपचार का नाम व्यवहार क्यों कहा है ?

उत्तर – मोक्षमार्ग में शुद्धि अंश के साथ, किस–किस प्रकार का राग होता है; अन्य प्रकार का राग नहीं होता है – यह ज्ञान कराने के लिए भूमिकानुसार शुभभावों को उपचार का नाम व्यवहार कहा है।

प्रश्न 17 – निर्मल शुद्धपरिणति को उपचार का नाम व्यवहार क्यों कहा है ?

उत्तर – अनादि–अनन्त न होने की अपेक्षा से तथा आश्रय करने योग्य न होने की अपेक्षा से, निर्मल शुद्धपरिणति को उपचार का नाम व्यवहार कहा है।

प्रश्न 18 – 'निर्मल शुद्धपरिणति–यथार्थ का नाम निश्चय और भूमिकानुसार शुभभावों को उपचार का नाम व्यवहार' इस बोल को चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थानों में लगाकर बतलाओ ?

उत्तर – चौथे गुणस्थान में श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय प्रगटी, साथ में अनन्तानुबन्धी के अभावस्वरूप स्वरूपाचरणचारित्र प्रगटा, सो निश्चयसम्यग्दर्शन–यथार्थ का नाम निश्चय है। वहाँ सच्चे देव –गुरु–शास्त्र का राग तथा सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा, बन्ध का कारण होने पर भी, उस पर सम्यग्दर्शन का आरोप करना–उपचार का नाम व्यवहार है। **पाँचवें गुणस्थान** में दो चौकड़ी कषाय के अभावरूप देशचारित्ररूप निर्मल शुद्धपरिणति, निश्चयश्रावकपना, यथार्थ का नाम निश्चय है। वहाँ बारह अणुव्रतादि का राग, बन्धरूप होने पर भी उस पर श्रावकपने का आरोप करना, उपचार का नाम व्यवहार है। **छठवें गुणस्थान** में तीन चौकड़ी कषाय के अभावरूप सकलचारित्ररूप, शुद्धपरिणति, निश्चयमुनिपना, यथार्थ का नाम निश्चय है। वहाँ अट्ठाईस मूलगुण आदि पालने का भाव, बन्धरूप होने पर भी, उस पर मुनिपने का अरोप करना, उपचार का नाम व्यवहार है।

प्रश्न 19 – अभी शुद्धि और अशुद्धि में निश्चय–व्यवहार क्यों बतलाया है ?

उत्तर – मोक्ष नहीं हुआ है, मोक्षमार्ग हुआ है। मोक्षमार्ग की शुरूआत होने पर, चारित्रगुण की पर्याय में शुद्धि–अशुद्धिरूप दो अंश हो जाते हैं। उसमें शुद्धि अंश, वीतराग है, वह संवर (मोक्षमार्ग) है और जो अशुद्धि अंश, सराग है, वह बन्ध है; इसलिए शुद्धि–अंश को निश्चय और अशुद्धि–अंश को व्यवहार बतलाया है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 288]

प्रश्न 20 – उभयाभासी किसे कहते हैं ?

उत्तर – निश्चयाभासी के समान निश्चय को और व्यवहाराभासी के समान व्यवहार को मानता है, उसे उभयावासी कहते हैं।

प्रश्न 21 – उभयाभासी की मान्यताऐं क्या-क्या हैं ?

उत्तर – (1) वास्तव में एक वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है, परन्तु उभयाभासी दो मोक्षमार्ग मानता है।

(2) निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट करनेयोग्य उपादेय है और व्यवहार, हेय है परन्तु उभयाभासी दोनों को उपादेय मानता है।

(3) निश्चय के आश्रय से धर्म होता है और व्यवहार के आश्रय से बन्ध होता है परन्तु उभयाभासी कहता है कि 'हम श्रद्धान तो निश्चय का रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहाररूप रखते हैं।' ....आदि उल्टी मान्यताएँ उभयाभासी में पायी जाती हैं।

प्रश्न 22 – निश्चयाभासी किसे कहते हैं ?

उत्तर – भगवान ने जो बात शक्तिरूप बतलायी है, उसे प्रगट पर्याय मे मान लेना और भगवान ने शुभभावों को बन्ध का कारण/हेय बताया है, तब शुभभावों को छोड़कर, अशुभभावों में प्रवृत्ति करनेवाले को निश्चयाभासी कहते हैं।

प्रश्न 23 – भगवान ने क्या बात शक्तिरूप बतलायी है, जिसे निश्चयाभासी प्रगट पर्याय में मान लेता है ?

उत्तर – (1) मैं सिद्धसमान शुद्ध हूँ; (2) केवलज्ञानादि सहित हूँ; (3) द्रव्यकर्म-नोकर्मरहित हूँ; (4) परमानन्दमय हूँ; (5) जन्म -मरणादि दुःख मेरे नहीं हैं। यह बात भगवान ने शक्ति अपेक्षा बतलायी है, परन्तु निश्चयाभासी प्रगट पर्याय में मान लेता है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 199]

प्रश्न 24 – सातवें अधिकार के प्रारम्भ में निश्चयाभासी की कौन-सी चार भूलें बतायी हैं ?

उत्तर – (1) वर्तमान में आत्मा की संसारपर्याय होने पर भी सिद्धदशा मानता है।

(2) वर्तमान में अल्पज्ञदशा होने पर भी केवलज्ञान मानता है।

(3) रागादि, वर्तमान पर्याय में होते ही नहीं हैं – ऐसा मानता है।

(4) विकार का उत्पन्न होना, द्रव्यकर्म के कारण मानता है।

प्रश्न 25 – शुभभावों को बन्ध का कारण / हेय बतलाया है, तब निश्चयाभासी किन शुभभावों को छोड़कर, अशुभ में प्रवर्तता है ?

उत्तर – (1) शास्त्राभ्यास करना निरर्थक बतलाता है;

(2) द्रव्यादिक के तथा गुणस्थान, मार्गणा, त्रिलोकादिक के विचारों को विकल्प ठहराता है;

(3) तपश्चरण करने को वृथा क्लेश करना मानता है;

(4) व्रतादिक धारण करने को बन्धन में पड़ना ठहराता है;

(5) पूजनादि कार्यों को शुभास्रव जानकर, हेय प्ररूपित करता है — इत्यादि सर्व साधनों को उठाकर, प्रमादी होकर परिणमित होता है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 200]*

प्रश्न 26 – निश्चयाभासी का स्वरूप जानने से पात्र भव्य जीवों को क्या जानना-मानना चाहिए ?

उत्तर – पात्र भव्य जीवों को यह जानना चाहिए कि मुझमें सिद्धपने, केवलज्ञानादिपने की शक्ति मौजूद है; मेरी पर्याय में दोष है, वह मेरे अपराध से ही है — ऐसा जानकर, शक्तिवान का आश्रय लेकर धर्म की प्राप्ति करनी चाहिए।

प्रश्न 27 – व्यवहाराभासी किसे कहते हैं?

उत्तर – जिनागम में जहाँ व्यवहार की मुख्यता से उपदेश है, उसे मानकर बाह्य साधनादिक ही का श्रद्धानादिक करते हैं, उन्हें व्यवहाराभासी कहते हैं। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 213]*

प्रश्न 28 – व्यवहाराभासियों में किस प्रकार की उल्टी मान्यताएँ पायी जाती हैं?

उत्तर – (1) कोई कुल अपेक्षा धर्म को मानते हैं, (2) कोई परीक्षारहित शास्त्रों की आज्ञा को धर्म मानते हैं, (3) कोई परीक्षा करके जैनी होते हैं, परन्तु मूल प्रयोजनभूत बातों की परीक्षा नहीं करते हैं, (4) कोई संगति से जैनधर्म धारण करते हैं, (5) कोई आजीविका के लिए, बड़ाई के लिए जैनधर्म धारण करते हैं, (6) अरहन्तभक्ति–गुरुभक्ति–शास्त्रभक्ति का अन्यथारूप श्रद्धान करते हैं, सच्चा श्रद्धान नहीं करते हैं, (7) जीव–अजीव, आस्रव–बन्ध, संवर–निर्जरा और मोक्ष–तत्त्वों का अन्यथारूप श्रद्धान करते हैं, (8) सम्यग्ज्ञान का अन्यथारूप विश्वास करते हैं, (9) सम्यक्चारित्र का अन्यथारूप आचरण करते हैं। इस प्रकार 'प्रथम व्यवहार चाहिए, व्यवहार करते–करते निश्चयधर्म प्रगट हो जावेगा।' — ऐसी–ऐसी उल्टी मान्यताएँ व्यवहाराभासियों में पायी जाती हैं। जिसका फल चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए निगोद है।

प्रश्न 29 – '(1) यद्यपि इस प्रकार अङ्गीकार करने में दोनों नयों के परस्पर विरोध है, (2) तथापि करें क्या? सच्चा तो दोनों नयों का स्वरूप भासित हुआ नहीं, (3) और जिनमत में दो नय कहे हैं, उनमें से किसी को भी छोड़ा नहीं जाता, (4) इसलिए भ्रमसहित दोनों का साधन साधते हैं, वे जीव भी मिथ्यादृष्टि जानना' — इस वाक्य को स्पष्टता से समझाइये?

उत्तर - (1) मैं निश्चय से सिद्धसमान शुद्ध हूँ, केवलज्ञानादि -सहित हूँ और व्यवहार से संसारी हूँ, मति-श्रुतज्ञानसहित हूँ — यद्यपि इस प्रकार निश्चय-व्यवहार को अङ्गीकार करने में दोनों नयों में परस्पर विरोध है। क्या विरोध है? विरोध यह है कि एक ही समय में पर्याय-अपेक्षा सिद्ध भी हो और संसारी भी हो; एक ही समय में पर्याय अपेक्षा केवलज्ञान-केवलदर्शन भी हो और मति -श्रुतज्ञान, चक्षु-अचक्षुदर्शन भी हो — ऐसा कभी भी नहीं हो सकता है। (2) तथापि करें क्या? उन्मत्त जैसी दशा हो जाती है। उन्मत्त जैसी दशा क्यों हो जाती है? क्योंकि निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का सच्चा तो स्वरूप भासित हुआ नहीं। (3) सच्चा निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का स्वरूप भासित न होने का क्या फल हुआ? जिनमत में निश्चय-व्यवहार दो नय कहे हैं, इनमें से (निश्चय - व्यवहार में से) किसी को छोड़ा भी नहीं जाता, ऐसा मानकर दोनों नयों का साधन करता है। (4) पण्डित टोडरमलजी बतलाते हैं कि इसलिए भ्रमसहित निश्चय-व्यवहार दोनों का साधन-साधनेवाले जीवों को मिथ्यादृष्टि जानना।

प्रश्न 30 - '(1) यद्यपि इस प्रकार अङ्गीकार करने में दोनों नयों के परस्पर विरोध है, (2) तथापि करें क्या? सच्चा तो दोनों नयों का स्वरूप भासित हुआ नहीं, और (3) जिनमत में दो नय कहे हैं, उनमें से किसी को छोड़ा भी नहीं जाता, (4) इसलिए भ्रमसहित दोनों का साधन साधते हैं, वे जीव भी मिथ्यादृष्टि जानना।' — इस वाक्य पर उभयाभासी मान्यतावाला जीव, निश्चय-व्यवहार मुनिपने को कैसा मानता है?

उत्तर — (1) सकलचारित्रपर्याय में प्रगट न होने पर भी, मुझे सकलचारित्र है, यह निश्चयमुनिपना और अट्ठाईस मूलगुणादि का

पालन, व्यवहारमुनिपना — इस प्रकार अङ्गीकार करने में निश्चय-व्यवहार मुनिपने के परस्पर विरोध है। (2) उभयावासी क्या करता है? सच्चा तो निश्चय-व्यवहार मुनिपने का स्वरूप भासित हुआ नहीं। (3) सच्चा निश्चय-व्यवहार मुनिपने का स्वरूप भासित न होने का क्या फल हुआ? जिनमत में निश्चय-व्यवहार दो प्रकार का मुनिपना कहा है। उनमें से (निश्चय-व्यवहार मुनिपने में से) किसी को छोड़ा भी नहीं जाता; ऐसा मानकर निश्चय-व्यवहार मुनिपने का साधन अपने को मानता है। (4) पण्डित टोडरमलजी, उभयाभासी के निश्चय-व्यवहार मुनिपने के साधन को बतलाते हैं कि इस प्रकार भ्रमसहित निश्चय-व्यवहार मुनिपने के साधनवाले जीवों को मिथ्यादृष्टि जानना।

इसी प्रकार श्रावकदशा, सम्यग्दर्शन आदि पर भी उपरोक्तानुसार विचार करना चाहिए।

वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग

प्रश्न 31 – क्या निश्चय-व्यवहाररूप दो मोक्षमार्ग हैं?

उत्तर – बिल्कुल नहीं, क्योंकि मोक्षमार्ग तो एक वीतरागभाव ही है; दो मोक्षमार्ग नहीं है, परन्तु मोक्षमार्ग का कथन दो प्रकार से है।

प्रश्न 32 – उभयाभासी दो प्रकार का मोक्षमार्ग क्यों मानता है?

उत्तर – अपने ज्ञान की पर्याय में निर्णय करके यथावत् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग को नहीं पहिचानने के कारण, उभयाभासी दो प्रकार का मोक्षमार्ग मानता है।

प्रश्न 33 – दो प्रकार का मोक्षमार्ग माननेरूप उभयाभासी की मान्यता का खण्डन पण्डित टोडरमलजी किस प्रकार किया है?

उत्तर – मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाये सो निश्चय-मोक्षमार्ग है; और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग निरूपित किया जाये, सो व्यवहारमोक्षमार्ग है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र (चारों अनुयोगों में) ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण, सो निश्चय; उपचार निरूपण, सो व्यवहार; इसलिए निरूपण अपेक्षा दो प्रकार का मोक्षमार्ग जानना। [किन्तु] एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है – इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना, मिथ्या है।

प्रश्न 34 – 'निमित्त व सहचारी हो', उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जावे सो व्यवहारमोक्षमार्ग है, इसमें निमित्त व सहचारी — ऐसे दो शब्द कहने का क्या रहस्य है?

उत्तर – मोक्षमार्ग होने पर, ज्ञानी का शुभभाव निमित्त है और सहचारी भी है, परन्तु अशुभभाव सहचारी तो है, निमित्त नहीं है; अतः मोक्षमार्ग होने पर जिस भाव में निमित्त व सहचारीपना पाया जावे, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है, यह बतलाने के लिए निमित्त व सहचारी ये दो शब्द आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने डाले हैं।

प्रश्न 35 – क्या निश्चय और व्यवहार — ऐसे दो प्रकार के सम्यग्दर्शन हैं?

उत्तर – नहीं; सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का है; दो प्रकार नहीं है, किन्तु उसका कथन दो प्रकार से है। जहाँ श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय को सम्यग्दर्शन निरूपण किया है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है तथा देव-गुरु-शास्त्र का राग, जो सम्यग्दर्शन तो नहीं, किन्तु सम्यग्दर्शन का निमित्त व सहचारी है, उसे उपचार से सम्यग्दर्शन कहा है किन्तु व्यवहारसम्यग्दर्शन को सच्चा सम्यग्दर्शन माने तो वह श्रद्धा मिथ्या

है; क्योंकि निश्चय और व्यवहार का सम्यग्दर्शन सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है, अर्थात् सच्चा निरूपण, वह निश्चय और उपचार निरूपण, वह व्यवहार है। इस निरूपण की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के दो प्रकार कहे हैं; किन्तु एक निश्चयसम्यग्दर्शन है और एक व्यवहारसम्यग्दर्शन है - इस प्रकार दो सम्यग्दर्शन मानना, वह मिथ्या है।

नोट - सम्यग्दर्शन के समान ही श्रावकदशा, मुनिदशा, समिति, गुप्ति आदि के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

प्रश्न 36 - निश्चय और व्यवहार के विषय में चरणानुयोग का क्या प्रयोजन है?

उत्तर - एकदेश व सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावकदशा, मुनिदशा होती है क्योंकि इनके निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है। ऐसा जानकर, श्रावक-मुनिधर्म के विशेष पहिचानकर, जैसा अपना वीतरागभाव हुआ हो, वैसा अपने योग्य धर्म को साधते हैं। वहाँ जितने अंश में वीतरागता होती है, उसे कार्यकारी जानते हैं; जितने अंश में राग रहता है, उसे हेय जानते हैं; सम्पूर्ण वीतरागता को परम धर्म मानते हैं - ऐसा चरणानुयोग का प्रयोजन है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 271]

धर्म तो निश्चयरूप मोक्षमार्ग है, वही है; उसके साधनादिक उपचार से धर्म हैं। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 271]*

निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्य साधन की अपेक्षा उपचार से किए हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 233]

व्यवहार नाम उपचार का है, सो महाव्रतादि होने पर ही वीतरागचारित्र होता है — ऐसा सम्बन्ध जानकर, महाव्रतादि में, चारित्र का उपचार किया है; निश्चय से निःकषायभाव है, वही सच्चा चारित्र है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 230]*

वीतरागभावों के और व्रतादि के कदाचित कार्य–कारणपना है; इसलिए व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहें, सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है – ऐसा ही श्रद्धान करना।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 253]

व्रत–तप आदि मोक्षमार्ग हैं नहीं (परन्तु जिनको निश्चय–वीतरागभाव प्रगटा है, उस जीव के) व्रतादि को निमित्तादिक की अपेक्षा उपचार से मोक्षमार्ग कहते हैं; इसलिए इन्हें व्यवहार कहा है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 250]

प्रश्न 37 – क्या वीतरागचारित्र और सरागचारित्र — ऐसा दो प्रकार का चारित्र है ?

उत्तर – नहीं; चारित्र तो मात्र वीतरागभावरूप ही है; सराग चारित्र तो दोषरूप है। जैसे, चावल दो प्रकार के हैं — एक, तुषसहित हैं और एक, तुषरहित हैं। वहाँ ऐसा जानना कि तुष है, वह चावल का स्वरूप नहीं है; चावल में दोष है। कोई समझदार, तुषसहित चावल का संग्रह करता था, उसे देखाकर कोई भोला, तुषों को ही चावल मानकर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा; वैसे ही चारित्र दो प्रकार का कहा है — एक वीतराग है; एक सराग है। वहाँ ऐसा जानना कि — जो राग है, वह चारित्र का स्वरूप नहीं है; चारित्र का दोष है। कितने ही ज्ञानी, प्रशस्तरागसहित चारित्र धारण करते हैं; उन्हें देखकर कोई अज्ञानी, प्रशस्तराग को ही चारित्र मान कर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 245]*

प्रश्न 38 – श्री समयसार कलश 110 में मोक्षमार्ग में शुद्धिअंश–अशुद्धिअंश के विषय में क्या बताया है ?

उत्तर – एक जीव में शुद्धपना–अशुद्धपना एक ही काल में होता है, परन्तु जितना अंश शुद्धपना है – उतना अंश कर्मक्षपण है; जितना अंश अशुद्धपना है, उतना अंश कर्मबन्ध होता है। एक ही

काल में दोनों कार्य होते हैं — ऐसा ही है, सन्देह नहीं करना। [श्री द्रव्यसंग्रह, गाथा 47 तथा पुरुषार्थसिद्धियुपाय गाथा 213 से 214 में ऐसा ही कहा है।]

शुद्धि, प्रगट करनेयोग्य उपादेय; व्यवहार, हेय

प्रश्न 39 – मोक्षमार्ग में हेय-उपादेय किस प्रकार है ?

उत्तर – शुद्धि अंश, प्रगट करनेयोग्य उपादेय है और अशुद्धि अंश, हेय है।

प्रश्न 40 – चौथे गुणस्थान में हेय-उपादेयपना किस प्रकार है ?

उत्तर – चौथे गुणस्थान में श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय प्रगट हो जाती है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है तथा अनन्तानुबन्धी क्रोधादि के अभावरूप स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हो जाता है – यह तो प्रगट करनेयोग्य उपादेय है; सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति अस्थिरता का राग तथा सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा-रागरूप परिणमन, यह हेय है।

प्रश्न 41 – पाँचवें गुणस्थान में हेय-उपादेयपना किस प्रकार है ?

उत्तर – पाँचवें गुणस्थान में दो चौकड़ी कषाय के अभावरूप देशचारित्ररूप शुद्धदशा, प्रगट करनेयोग्य उपादेय है; बारह अणुव्रतादिक का अस्थिरता सम्बन्धी राग, हेय है।

प्रश्न 42 – छठवें गुणस्थान में हेय-उपादेयपना किस प्रकार है ?

उत्तर – छठवें गुणस्थान में तीन चौकड़ी कषाय के अभावरूप सकलचारित्र शुद्धि, प्रगट करनेयोग्य उपादेय है; अट्ठाईस मूलगुणादि के पालन का अस्थिरता सम्बन्धी राग, हेय है।

प्रश्न 43 – उभयाभासी, शुद्धि और अशुद्धि अंश को क्या जानता है ?

उत्तर – शुद्धिअंश, निश्चय और अशुद्धिअंश, व्यवहार; इस प्रकार दोनों को उपादेय मानता है।

प्रश्न 44 – उभयभासी, मोक्षमार्ग में निश्चय–व्यवहार दोनों को उपादेय मानता है — इस विषय में पण्डितजी ने क्या कहा है ?

उत्तर – निश्चय–व्यवहार दोनों को उपादेय मानता है, वह भी भ्रम है, क्योंकि निश्चय–व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोधसहित है। श्री समयसार 11वीं गाथा में कहा है कि – व्यवहार, अभूतार्थ है, सत्यस्वरूप का निरूपण नहीं करता; किसी अपेक्षा उपचार से अन्यथा निरूपण करता है तथा शुद्धनय, जो निश्चय है, वह भूतार्थ है; जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा निरूपण करता है; इस प्रकार इन दोनों का स्वरूप तो विरुद्धतासहित है।

प्रश्न 45 – क्या निश्चय और व्यवहारसम्यग्दर्शन, दोनों उपादेय हैं ?

उत्तर. — नहीं; क्योंकि निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करनेयोग्य उपादेय है और व्यवहारसम्यग्दर्शन, हेय है परन्तु जो निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन दोनों को उपादेय मानता है, वह भी भ्रम है क्योंकि निश्चय और व्यवहारसम्यग्दर्शन का स्वरूप तो परस्पर विरोधसहित है। श्री समयसार की 11वीं गाथा में कहा है कि व्यवहारसम्यग्दर्शन अभूतार्थ है क्योंकि वह निश्चयसम्यग्दर्शन का निरूपण नहीं करता; निमित्त की अपेक्षा उपचार से अन्यथा निरूपण करता है। तथा निश्चयसम्यग्दर्शन है, वह भूतार्थ है, जैसा सम्यग्दर्शन का स्वरूप है, वैसा निरूपण करता है। इस प्रकार निश्चय–व्यवहार

सम्यग्दर्शन का स्वरूप तो परस्पर विरुद्धतासहित है; इसलिए निश्चय –सम्यग्दर्शन प्रगट करनेयोग्य उपादेय है और व्यवहार–सम्यग्दर्शन, हेय है।

उभयाभासी की मिथ्यामान्यता का स्पष्टीकरण

प्रश्न 46 – (1) तथा तू ऐसा मानता है कि सिद्धसमान शुद्ध आत्मा का अनुभवन, सो सिश्चय और व्रत-शील-संयमादिरूप प्रवृत्ति, सो व्यवहार; सो तेरा ऐसा मानना ठीक नहीं है। (2) क्योंकि किसी द्रव्यभाव का नाम निश्चय और किसी का नाम व्यवहार — ऐसा नहीं है।(3) एक ही द्रव्य के भाव को, उस स्वरूप ही निरूपण करना, सो निश्चयनय है; उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप निरूपण करना, सो व्यवहार है।(4) जैसे मिट्टी के घड़ को मिट्टी का घड़ा निरूपित किया जाए, सो निश्चय और घृत संयोग के उपचार से उसी को घृत का घड़ा कहा जाए, सो व्यवहार; (5) ऐसे ही अन्यत्र जानना। इस वाक्य को स्पष्टता से समझाइये ?

उत्तर – (1) आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी, उभयाभासी मान्यतावाले जीव से कहते हैं कि – तू वर्तमान पर्याय में सिद्धसमान शुद्ध आत्मा के अनुभवन को निश्चय मानता है और व्रत–शील –संयमादिरूप (शुभभाव) प्रवृत्ति को व्यवहार मानता है, किन्तु ऐसा निश्चय–व्यवहार का स्वरूप मानना ठीक नहीं है; (2) ऐसा निश्चय–व्यवहार का स्वरूप मानना ठीक क्यों नहीं है ? क्योंकि किसी द्रव्य की पर्याय का नाम निश्चय और किसी द्रव्य की पर्याय का नाम व्यवहार, ऐसा निश्चय–व्यवहार का स्वरूप जिनागम में नहीं है; (3) जिनागम में निश्चय–व्यवहार का स्वरूप कैसा बताया

है ? जिनागम में, एक ही द्रव्य के कार्य को उस स्वरूप ही निरूपण करना, सो निश्चयनय है; उपचार से उस द्रव्य के कार्य को, दूसरे द्रव्य के कार्यरूप निरूपण करना सो व्यवहार है — ऐसा बताया है, (4) जैसे — मिट्टी में हर समय कार्य हो रहा है; कार्य में नय का प्रयोजन नहीं है, मानों-दस नम्बर के कार्य का नाम घड़ा रक्खा तो उस घड़े को मिट्टी का घड़ा कहा जावे, सो निश्चय है और उस घड़े में घी का संयोग होने से, उपचार से उस घड़े को घी का घड़ा कहा जाए, सो व्यवहार; (5) ऐसा ही सर्वत्र जान लेना।

प्रश्न 47 - 'तथा तू ऐसा मानता है कि सिद्धसमान शुद्ध आत्मा का अनुभवन सो निश्चय, और व्रत-शील-संयमादिरूप प्रवृत्ति सो व्यवहार; सो तेरा ऐसा मानना ठीक नहीं है; (2) क्योंकि किसी द्रव्य भाव का नाम निश्चय और किसी का नाम व्यवहार — ऐसा नहीं है; (3) एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करता सो निश्चनय है; उपचार से उस द्रव्य के भाव को, अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप निरूपण करना, सो व्यवहार है;' इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर - (1) पण्डितजी, उभयाभासी मान्यतावाले जीव को समझाते हैं कि तू पर्याय में प्रगट न होने पर भी, सकलचारित्र को निश्चयमुनिपना मानता है और अट्ठाईस महाव्रतादि के पालन को व्यवहारमुनिपना मानता है — सो ऐसा तेरा निश्चय-व्यवहार मुनिपने का स्वरूप मानना ठीक नहीं है; (2) क्यों ठीक नहीं है ? आत्मा के चारित्रगुण की शुद्धपर्याय का नाम निश्चयमुनिपना और चारित्रगुण की विकारीपर्याय का नाम व्यवहारमुनिपना - ऐसा निश्चय-व्यवहार मुनिपने का स्वरूप जिनागम में नहीं है। (3) जिनागम में निश्चय-व्यवहार मुनिपने का स्वरूप कैसा बताया है ? जिनागम में कहा है

कि आत्मा के चारित्रगुण में प्रगट सकलचारित्ररूप शुद्धि को मुनिपना निरूपण करना, सो निश्चयमुनिपना है और प्रगट सकलचारित्र के साथ, अट्ठाईस मूल गुणों का भाव होने से अट्ठाईस मूल गुणों पर उपचार से मुनिपना निरूपण करना, सो व्यवहारमुनिपना है।

प्रश्न 48- (1) 'इसलिए तू किसी को निश्चय माने और किसी को व्यवहार माने, वह भ्रम है।(2) तथा तेरे मानने में भी निश्चय-व्यवहार को परस्पर विरोध आया।(3) यदि तू अपने को सिद्धसमान शुद्ध मानता है तो व्रतादिक किसलिए करता है ?(4) यदि व्रतादिक के साधन द्वारा सिद्ध होना चाहता है तो वर्तमान में शुद्ध आत्मा का अनुभवन मिथ्या हुआ। (5) इस प्रकार दोनों नयों के परस्पर विरोध हैं; (6) इसलिए दोनों नयों का उपादेयपना नहीं बनता।' इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर - (1) पण्डितजी, उभयाभासी मान्यतावाले शिष्य को समझाते हुए कहते हैं कि तू शुद्धि को निश्चय माने और अशुद्धि को व्यवहार माने — वह तेरा भ्रम है। (2) तेरी मान्यता के अनुसार भी निश्चय-व्यवहार में परस्पर विरोध आता है; (3) क्या विरोध आता है ? यदि तू अपने को सिद्धसमान शुद्ध मानता है तो तू व्रतादिक क्यों करता है ? (4) और यदि व्रतादिक साधन द्वारा सिद्ध होना चाहता है, तो तेरा वर्तमान पर्याय में शुद्ध आत्मा का अनुभवन मिथ्या हुआ; (5) इस प्रकार तेरी मान्यता के अनुसार निश्चय-व्यवहार के मानने में परस्पर विरोध है; (6) इसलिए निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का उपादेयपना नहीं हो सकता है।

प्रश्न 49- (1) 'इसलिए तू किसी को निश्चय माने और किसी को व्यवहार माने, वह भ्रम है; (2) तथा तेरे मानने में भी निश्चय-व्यवहार का परस्पर विरोध आया; (3) यदि तू अपने

को सिद्धसमान शुद्ध मानता है तो व्रतादिक किसलिए करता है ? (4) यदि व्रतादिक साधन द्वारा सिद्ध होना चाहता है, तो वर्तमान में शुद्ध आत्मा का अनुभवन मिथ्या हुआ; (5) इस प्रकार दोनों नयों के परस्पर विरोध है; (6) इसलिए दोनों नयों का उपादेयपना नहीं बनता।' — इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझइये ?

उत्तर – (1) तू अपने को प्रकट सकलचारित्ररूप शुद्धि को निश्चय-मुनिपना माने और अट्ठाईस मूलगुणादि अशुद्धि को व्यवहार -मुनिपना माने, वह भ्रम है; (2) तेरे मानने में भी निश्चय-व्यवहार मुनिपने को परस्पर विरोध आता है; (3) क्या विरोध आता है ? यदि तू अपने को सकलचारित्ररूप शुद्ध मुनिपना मानता है तो अट्ठाईस मूलगुणादि का साधन किसलिए करता है ? (4) यदि अट्ठाईस मूलगुणादि के साधन द्वारा मुनिपने की सिद्धि चाहता है तो वर्तमान में सकलचारित्र मुनिपने का अनुभवन मिथ्या हुआ; (5) तेरी मान्यता के अनुसार निश्चय-व्यवहार मुनिपने में परस्पर विरोध है; (6) इसलिए निश्चय-व्यवहार दोनों मुनिपने को उपोदयपना नहीं बनता है।

प्रश्न 50 – शुद्धपने के कितने अर्थ हैं ?

उत्तर – शुद्धपना दो अर्थों में प्रयुक्त होता है :— (1) द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना, और (2) पर्याय अपेक्षा शुद्धपना।

प्रश्न 51 – द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना क्या है ?

उत्तर – परद्रव्यों से भिन्नपना और अपने भावों से (गुणों से) अभिन्नपना, उसका नाम द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना है।

प्रश्न 52 – पर्याय अपेक्षा शुद्धपना क्या है ?

उत्तर – निर्मलदशा का प्रगट होना, अर्थात् औपाधिकभावों का अभाव होना, उसका नाम पर्याय अपेक्षा शुद्धपना है।

प्रश्न 53 – उभयाभासी प्रश्न करता है कि समयसारादि में शुद्ध आत्मा के अनुभव को निश्चय कहा है; व्रत-तप-संयमादि को व्यवहार कहा है; उसी प्रकार ही हम मानते हैं, परन्तु आप हमें झूठा क्यों कहते हो?

उत्तर – (1) शुद्ध आत्मा का पर्याय में अनुभव (प्रगटपना), सच्चा मोक्षमार्ग है; इसलिए उसे पर्याय अपेक्षा शुद्धपना कहा है। (2) स्वभाव से (अनन्त गुणों से) अभिन्न; परभाव से (द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म से) भिन्न — ऐसा द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना कहा है। तू उभयाभासी मिथ्यादृष्टि है। तुझे वर्तमान पर्याय में शुद्धता प्रगट नहीं है और द्रव्य अपेक्षा तू शुद्धता मानता नहीं है; इसलिए संसारी को सिद्ध मानना — ऐसा भ्रमरूप अर्थ, शुद्ध का नहीं जानना। व्रत-तपादि मोक्षमार्ग हैं नहीं, परन्तु जिसे अपनी आत्मा के आश्रय से पर्याय में मोक्षमार्ग प्रगटा है, उस जीव के व्रत-तपादिक को निमित्तादिक की अपेक्षा उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, परन्तु तुझे पर्याय में मोक्षमार्ग प्रगटा नहीं; अतः तेरे व्रत-तपादि के भावों पर उपचार भी सम्भव नहीं है; इसलिए तेरा माना हुआ निश्चय-व्यवहार सब झूठा है।

प्रश्न 54 – समयसारादि में शुद्ध आत्मा के अनुभव को निश्चय कहा है; व्रत-तप संयमादि को व्यवहार कहा है — उसी प्रकार हम मानते हैं। आप हमें झूठा क्यों कहते हो? — इस वाक्य को मुनिपने पर लगाकर समझाइये।

उत्तर – (1) तीन चौकड़ी कषाय के अभावपूर्वक सकल-चारित्ररूप शुद्धि की पर्याय को निश्चयमुनिपना कहा है। (2) चारित्रादि अनन्त गुणों से अभिन्न तथा द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म से भिन्न — यह द्रव्य अपेक्षा मुनिपना कहा है। [अ] तू उभयाभासी मिथ्यादृष्टि है। तुझे वर्तमान पर्याय में सकलचारित्ररूप शुद्धि प्रगट

नहीं है और द्रव्य अपेक्षा मुनिपना तू मानता नहीं है; इसलिए संसारी को सकलचारित्र शुद्धिरूप मुनिपना मानना — ऐसा भ्रमरूप अर्थ, शुद्ध का नहीं जानना। [आ] अट्ठाईस मूलगुणादि मुनिपना है नहीं, परन्तु जिसको अपनी आत्मा के आश्रय से पर्याय में सकलचारित्ररूप मुनिपना प्रगटा है, उस जीव के अट्ठाईस मूलगुणादि को निमित्तादिक की अपेक्षा उपचार से मुनिपना कहा है परन्तु तुझे पर्याय में सकल-चारित्ररूप मुनिपना प्रगटा नहीं है; अतः तेरे अट्ठाईस मूलगुणादि के भावों पर मुनिपने का उपचार भी सम्भव नहीं है; इसलिए तेरा माना हुआ निश्चय-व्यवहार मुनिपना सब झूठा है।

प्रश्न 55 - (1) इस प्रकार भूतार्थ-अभूतार्थ मोक्षमार्ग से इनको (शुद्धि अंश और अशुद्धि अंश को) निश्चय-व्यवहार कहा है; सो ऐसा ही मानना। (2) परन्तु यह दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं, इन दोनों को उपादेय मानना —'यह तो मिथ्याबुद्धि ही है' —इस वाक्य को स्पष्ट समझाओ ?

उत्तर - (1) साधकदशा में जो शुद्धि अंश है, वह भूतार्थ है; अतः निश्चय कहा है; अशुद्धि अंश है, वह अभूतार्थ है, अतः व्यवहार कहा है — सो ऐसा ही मानना। (2) परन्तु शुद्धि अंश, भूतार्थ निश्चय है और अशुद्धि अंश, अभूतार्थ / व्यवहार है, इन दोनों को ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं और उपादेय हैं —ऐसा मानना मिथ्याबुद्धि ही है।

प्रश्न 56 - (1) इस प्रकार भूतार्थ-अभूतार्थ मोक्षमार्गपने से इनको निश्चय-व्यवहार कहा है; सो ऐसा ही मानना। (2) परन्तु यह दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं, इन दोनों को उपादेय मानना — वह तो मिथ्याबुद्धि ही है। इसे 'मुनिपना' पर लगाकर समझाओ ?

उत्तर - (1) मुनिदशा में तीन चौकड़ी कषाय के अभावपूर्वक

सकलचारित्ररूप प्रगट शुद्धि, भूतार्थ है सो निश्चयमुनिपना कहा है; अट्ठाईस मूलगुण पालने आदि का विकल्प, अभूतार्थ है, सो व्यवहार –मुनिपना कहा है; — सो ऐसा ही मानना। (2) परन्तु सकलचारित्र –रूप शुद्धि भूतार्थ निश्चयमुनिपना है और अस्थिरता सम्बन्धी राग, अभूतार्थ सो व्यवहारमुनिपना है। इन दोनों को ही सच्चा मुनिपना है और उपादेय हैं — ऐसा मानना मिथ्याबुद्धि ही है।

प्रश्न 57 – (1) इस प्रकार भूतार्थ–अभूतार्थ मोक्षमार्गपने से इनको निश्चय–व्यवहार कहा है, सो ऐसा ही मानना। (2) परन्तु यह दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं, इन दोनों को उपादेय मानना — वह तो मिथ्याबुद्धि ही है। इसे सम्यग्दर्शन पर लगाकर समझाओ ?

उत्तर – (1) श्रद्धागुण की शुद्ध पर्याय प्रगटी, भूतार्थ है; अतः निश्चयसम्यग्दर्शन कहा है; सच्चे देव–गुरु–शास्त्र के प्रति अस्थिरता का राग तथा सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा, अभूतार्थ है; अतः व्यवहार–सम्यग्दर्शन कहा है। सो ऐसा ही मानना। (2) परन्तु निश्चय और व्यवहारसम्यग्दर्शन, इन दोनों को ही सच्चा सम्यग्दर्शन और उपादेय हैं — ऐसा मानना तो मिथ्याबुद्धि ही है।

श्रद्धान निश्चय का; प्रवृत्ति व्यवहार की — इसका स्पष्टीकरण

प्रश्न 58 – श्रद्धान तो निश्चय का रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहाररूप रखते हैं — क्या उभयाभासी का इस प्रकार दोनों नयों को अङ्गीकार करना ठीक है ?

उत्तर – बिल्कुल गलत है, क्योंकि उभयाभासी को यथार्थ निश्चय–व्यवहार का ज्ञान ही नहीं है; इसलिए उसका दोनों नयों का

ग्रहण मानना मिथ्या है, क्योंकि जिसका श्रद्धान हो, उसकी प्रवृत्ति होनी चाहिए।

प्रश्न 59 – बहुत से ऐसा कहते हैं कि भाई! निश्चय में तो कुछ करना है ही नहीं, अब व्रतादिक करके शुद्ध हो जावो — क्या उनका यह कहना ठीक है ?

उत्तर – उनका यह कहना बिल्कुल गलत है, क्योंकि ऐसे महानुभाव तो उभयाभासी में आ जाते हैं। इसलिए इनका भी दोनों नयों का ग्रहण मानना, मिथ्या है। इसी बात को श्री समयसार, गाथा 156 में कहा है कि —

विद्वानजन भूतार्थ तज, व्यवहार में बर्तन करे।
पर कर्मनाश विधान तो, परमार्थ आश्रित सन्त के ॥156 ॥

अर्थात् – निश्चयनय के विषय को छोड़कर, विद्वान, व्यवहार के द्वारा प्रवर्तते हैं परन्तु परमार्थ के (आत्मस्वरूप के) आश्रित यतीश्वरों के ही कर्मों का नाश आगम में कहा गया है। (केवल व्रत-तपादि में प्रवर्तन करनेवाले पण्डितों के कर्मक्षय नहीं होता।)

प्रश्न 60 – निश्चय-व्यवहार के विषय में श्री समयसार, गाथा 272 में क्या बताया है ?

उत्तर – जो निश्चयनय के आश्रय से प्रवर्तते हैं, वे ही कर्मों से मुक्त होते हैं और जो एकान्त से व्यवहारनय के आश्रय से ही प्रवर्तते हैं, वे कभी कर्मों से मुक्त नहीं होते हैं।

प्रश्न 61 – 'निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है।' इसका तात्पर्य क्या है ?

उत्तर – (1) निश्चयनय के आश्रय से धर्म होता है, यह निश्चय का निश्चयरूप श्रद्धान है; व्यवहार के आश्रय से बन्ध होता

है, यह व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान है। (2) संवर-निर्जरा, मोक्षमार्गरूप हैं, यह निश्चयरूप श्रद्धान है; आस्रव-बन्ध, संसारमार्गरूप हैं, यह व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान है।

प्रश्न 62 – 'निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करने योग्य है।' इसके दृष्टान्त देकर समझाओ?

उत्तर – चौथे गुणस्थान में निश्चयसम्यग्दर्शन तथा स्वरूपाचरण-चारित्र की प्राप्ति, यह निश्चय का निश्चयरूप श्रद्धान है; और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का विकल्प तथा सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा, बन्धरूप है, हेय है, यह व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान है। पाँचवें गुणस्थान में देशचारित्ररूप शुद्धि, श्रावकपना है, यह निश्चय का निश्चयरूप श्रद्धान है; और बारह अणुव्रतादि का विकल्प, व्यवहार श्रावकपना बन्धरूप है, हेय है, यह व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान है। छठवें गुणस्थान में सकलचारित्ररूप शुद्धि, निश्चयमुनिपना है, यह निश्चयनय का निश्चयरूप श्रद्धान है; और अट्ठाईस मूलगुणादि पालने का विकल्प, व्यवहारमुनिपना बन्धरूप है, हेय है, यह व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान है।

प्रश्न 63 – 'एक ही नय का श्रद्धान होने से एकान्त मिथ्यात्व है' इसका अर्थ क्या है?

उत्तर – आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान हुए बिना, सर्वथा निश्चय की बात करे, सर्वथा व्यवहार की बात करे या सर्वथा उभयाभासी की बात करे — वह सब एकान्त मिथ्यात्व है।

प्रश्न 64 – श्री समयसार, कलश 111 में सर्वथा एकान्त क्या बताया है; स्पष्ट समझाइये?

उत्तर – (अ) व्यवहाराभासी, परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा

को तो जानते नहीं और व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अनशनादि क्रियाकाण्ड के आडम्बर को मोक्ष का कारण जानकर, उसमें तत्पर रहते हैं — उसका पक्षपात करते हैं, वे सर्वथा एकान्त संसार में डूबते हैं। (आ) निश्चयाभासी, आत्मस्वरूप को यथार्थ जानते नहीं तथा सर्वथा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टियों के उपदेश से अथवा अपने आप ही शुद्ध दृष्टि हुए बिना, अपने को सर्वथा अबन्ध मानते हैं, व्यवहार को निरर्थक जानकर, छोड़कर, स्वच्छन्दी होकर विषय-कषायों में वर्तते हैं, वे सर्वथा एकान्ती संसारसमुद्र में डूबते हैं।

[श्री समयसार, कलश 111]

प्रश्न 65 - एकान्त मिथ्यात्व के विषय में श्री समयसार, कलश 137 के भावार्थ में क्या बताया है?

उत्तर - 'पहले तो मिथ्यादृष्टि का अध्यात्मशास्त्र में प्रवेश ही नहीं है और यदि प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है। निश्चयाभासी, शुभभाव को सर्वथा छोड़कर, भ्रष्ट होता है अथवा व्यवहाराभासी, निश्चय को भली-भाँति जाने बिना, शुभभाव से ही मोक्ष मानता है, परमार्थतत्त्व में मूढ़ रहता है।' ऐसा बताया है।

प्रश्न 66 - श्री प्रवचनसार, गाथा 94 में सर्वथा एकान्त किसे बताया है?

उत्तर - जिन्हें असमानजातीय द्रव्यपर्याय में निरर्गल एकान्त दृष्टि उछलती है कि मैं मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है — ऐसा अहंकार-ममकार द्वारा ठगाता हुआ, जिसने समस्त क्रिया-कलाप को छाती से लगाया है, वे सर्वथा एकान्ती है।

प्रश्न 67 - श्री नियमसार, गाथा 19 की टीका में सर्वथा एकान्ती के लिये क्या कहा है?

उत्तर - एक नय का अवलम्बन लेता हुआ, उपदेश ग्रहण करने योग्य नहीं है।

प्रश्न 68 – 'वहाँ वह कहता है कि (1) श्रद्धान तो निश्चय का रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहाररूप रखते हैं; इस प्रकार हम दोनों को अङ्गीकार करते हैं। (2) सो ऐसा भी नहीं बनता; क्योंकि निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करनेयोग्य है। (3) एक ही नय का श्रद्धान होने से एकान्त मिथ्यात्व होता है।' इस वाक्य को मुनिपने पर लगाकर समझाओ ?

उत्तर – उभयाभासी मान्यतावाला जीव कहता है कि (1) हम सकलचारित्र मुनिपने का श्रद्धान रखते हैं और अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्ति का व्यवहार पालते हैं; इस प्रकार हम निश्चय-व्यवहार दोनों मुनिपनों को अङ्गीकार करते हैं। (2) आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी उत्तर देते हुए कहते हैं कि तुम्हारी मान्यतानुसार निश्चय -व्यवहार मुनिपना नहीं बनता, क्योंकि तीन चौकड़ी कषाय के अभावरूप सकलचारित्र मुनिपना (मोक्षमार्ग) प्रगट करने योग्य उपादेय है। यह निश्चयमुनिपने का निश्चयरूप श्रद्धान है और अट्ठाईस मूलगुणादि व्यवहारमुनिपना, बन्धरूप हेय है, यह व्यवहार मुनिपने का व्यवहाररूप श्रद्धान है। (3) एकमात्र अट्ठाईस मूलगुणादि का पालन मुनिपना है — ऐसा माने या सकलचारित्र मुनिपने की बातें करे और प्रगट न करे — यह एक ही नय का श्रद्धान होने से एकान्त मिथ्यात्व है।

प्रश्न 69 – निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान को तीन तरह से स्पष्ट समझाइये ?

उत्तर – (1) त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से ही धर्म की शुरुआत, वृद्धि और पूर्णता होती है; अतः त्रिकाली स्वभाव आश्रय करनेयोग्य परम उपादेय है — यह निश्चय का निश्चयरूप-श्रद्धान

है; और शुद्धपर्याय –चाहे क्षायिक हो, वह अनादि–अनन्त नहीं है, उसका आश्रय नहीं लिया जा सकता, क्योंकि वह एक समय की है — यह व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान है।

(2) मोक्षमार्ग में शुद्धपर्याय प्रगट करनेयोग्य उपादेय है, यह निश्चय का निश्चयरूप श्रद्धान है और भूमिकानुसार अस्थिरता सम्बन्धी शुभभाव, बन्धरूप है, हेय है — यह व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान है।

(3) विकारीभाव अपनी पर्याय में है; अतः अपने दोष का ज्ञान कराने की अपेक्षा विकारीभाव आत्मा का है — यह निश्चय का निश्चयरूप श्रद्धान है और जब पर्याय में दोष होता है, तब वहाँ द्रव्यकर्म–नोकर्म निमित्त होता है, परन्तु द्रव्यकर्म–नोकर्म, विकार नहीं कराता है — यह व्यवहाररूप श्रद्धान है।

प्रश्न 70 – '(1) तथा प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन ही नहीं है; (2) प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है; (3) वहाँ जिस द्रव्य की परिणति हो, उसको उसी की प्ररूपित करे, सो निश्चयनय; (4) और उस ही को अन्य द्रव्य की प्ररूपित करे, सो व्यवहारनय; (5) ऐसे अभिप्रायानुसार प्ररूपण से, उस प्रवृत्ति में दोनों नय बनते हैं; (6) कुछ प्रवृत्ति ही तो नयरूप है नहीं; (7) इसलिए इस प्रकार भी दोनों नयों का ग्रहण मानना मिथ्या है।' इस वाक्य को स्पष्टरूप से समझाइए ?

उत्तर – (1) प्रवृत्ति, अर्थात् कार्य; चाहे वह कार्य, जड़ का हो या चेतन का हो, विकारी कार्य हो या अविकारी हो; उसमें नय का प्रयोजन ही नहीं है। (2) प्रवृत्ति, अर्थात् कार्य तो द्रव्य की परिणति है। (3) वहाँ जिस द्रव्य का कार्य हो / परिणति हो, उसको उसी की प्ररूपित (कथन) करे, सो निश्चयनय है। (4) और उस ही को

उपचार से अन्य द्रव्य की प्ररूपित (कथन) करे, सो व्यवहारनय है। (5) ऐसे अभिप्राय के अनुसार प्ररूपण में (कथन में) उस प्रवृत्ति में (कार्य में) दोनों नय बनते हैं। (6) कुछ प्रवृत्ति ही तो (कार्य ही तो) नयरूप है नहीं। (7) इसलिए इस प्रकार भी दोनों नयों का ग्रहण मानना मिथ्या है।

प्रश्न 71 - उक्त वाक्यांश को मुनिपने पर घटित करके समझाओ ?

उत्तर. — (1) वीतराग सकलचारित्ररूप प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन ही नहीं है। (2) वीतराग सकलचारित्ररूप प्रवृत्ति आत्मा की शुद्धपरिणति है। (3) वीतराग सकलचारित्ररूप आत्मा की शुद्धिपरिणति को मुनिपना निरूपित करे, सो निश्चयमुनिपना है; (4) और उस मुनिपने के साथ अट्ठाईस मूलगुणादि का विकल्प निमित्त व सहचारी होने से अट्ठाईस मूलगुणादि के भाव को मुनिपना निरूपित करे, सो व्यवहारमुनिपना है। (5) ऐसे अभिप्राय के अनुसार प्ररूपण से उस प्रवृत्ति में (वीतराग सकलचारित्ररूप कार्य में) दोनों नय बनते हैं। (6) वीतराग सकलचारित्ररूप प्रवृत्ति है, वह तो नयरूप है नहीं। (7) इसलिए इस प्रकार भी (तेरी मान्यता के अनुसार सकलचारित्र निश्चयमुनिपना और अट्ठाईस मूलगुणादिरूप प्रवृत्ति, व्यवहारमुनिपना) दोनों नयों का ग्रहण मानना मिथ्या है। इसी प्रकार श्रावकदशा, सम्यग्दर्शन इत्यादि पर भी घटित करके अभ्यास करना चाहिए।

नोट - जैसे, छठवें गुणस्थान में वीतराग सकलचारित्ररूप शुद्धदशा तो एक ही प्रकार की है। उसके साथ जैसा-जैसा शुभविकल्प, निमित्त व सहचारी होता है, तो वीतराग सकलचारित्ररूप शुद्धि को उस-उस नाम से निश्चय कहा जाता है और उस विकल्प को

व्यवहार कहा जाता है। जैसे, सकलचारित्ररूप शुद्धि के साथ अहिंसा महाव्रत का विकल्प, निमित्त व सहचारी होने से शुद्धि को भी निश्चय अहिंसामहाव्रत एवं विकल्प को व्यवहार अहिंसा महाव्रत कहा जाता है। इसी प्रकार सर्वत्र घटित कर लेना चाहिए।

प्रश्न 72 - चारित्रमोहनीय द्रव्यकर्म के उदय से विकार हुआ- इस वाक्य पर पूर्व के अनुसार उत्तर दीजिए ?

उत्तर - (1) विकाररूप प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन ही नहीं है। (2) विकाररूप प्रवृत्ति, आत्मा के चारित्रगुण की विकारीदशा है। (3) अपने दोष का ज्ञान कराने की अपेक्षा आत्मा की विकाररूप प्रवृत्ति को 'आत्मा ने क्रोध किया' — ऐसा निरूपित करे, सो निश्चयनय है; और (4) उस क्रोध को ही चारित्रमोहनीय द्रव्यकर्म के उदय से हुआ — ऐसा निरूपित करे, सो व्यवहारनय है; (5) ऐसे अभिप्राय के अनुसार प्ररूपण से उस प्रवृत्ति में (विकाररूप प्रवृत्ति में) दोनों नय बनते हैं; (6) विकाररूप प्रवृत्ति है, वह तो नयरूप है नहीं; (7) इसलिए इस प्रकार भी (तेरी मान्यता के अनुसार विकार, आत्मा ने किया, यह निश्चय और विकार, कर्म ने कराया, यह व्यवहार) दोनों नयों का ग्रहण मानना मिथ्या है।

प्रश्न 73 - पानी का घड़ा है — इस वाक्य पर पूर्व प्रश्न के अनुसार प्रश्न बनाकर उत्तर दो ?

उत्तर - (1) आहारवर्गणारूप बर्तन (घड़ा) में नय का प्रयोजन ही नहीं है। (2) बर्तन तो आहारवर्गणा का कार्य है। (3) आहारवर्गणारूप मिट्टी के बर्तन को घड़ा प्ररूपित करे, सो निश्चयनय; और (4) पानी का संयोग होने पर उपचार से पानी का घड़ा प्ररूपित करे, सो व्यवहारनय है; (5) ऐसे अभिप्राय — अनुसार प्ररूपण से, आहारवर्गणारूप बर्तन में दोनों नय बनते हैं;

(6) आहारवर्गणारूप बर्तन ही तो नयरूप है नहीं; (7) इसलिए इस प्रकार भी (तेरी मान्यता के अनुसार मिट्टी का घड़ा, यह निश्चय और पानी का घड़ा, यह व्यवहार) दोनों नयों का ग्रहण मानना मिथ्या है।

प्रश्न 74 – मैं मनुष्य हूँ — इस वाक्य पर पूर्व प्रश्न के अनुसार प्रश्न बनाकर उत्तर दो ?

उत्तर – (1) औदारिकशरीर में नय का प्रयोजन ही नहीं है; (2) औदारिकशरीर तो आहारवर्गणा का कार्य है; (3) आहारवर्गणा के कार्यरूप औदारिकशरीर को 'यह मनुष्य है' — ऐसा निरूपित करे, सो निश्चयनय; और (4) मनुष्यशरीर के साथ जीव का एकक्षेत्रावगाहीसम्बन्ध होने से 'मनुष्य जीव' — ऐसा निरूपित करे, सो व्यवहारनय है; (5) ऐसे अभिप्राय के अनुसार प्ररूपण से औदारिक शरीररूप कार्य में दोनों नय बनते हैं; (6) औदारिकशरीररूप कार्य ही तो नयरूप है नहीं; (7) इसलिए इस प्रकार भी (तेरी मान्यता के अनुसार मनुष्यशरीर, यह निश्चय और मनुष्य जीव, यह व्यवहार) दोनों नयों का ग्रहण मानना मिथ्या है।

सर्वत्र प्रयोग करने योग्य प्रश्नोत्तर

प्रश्न 75 – उभयाभासी के दोनों नयों का ग्रहण भी मिथ्या बतला दिया, तो वह क्यो करे ?

उत्तर – निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।

प्रश्न 76 – निश्चनय के निरूपण को सत्यार्थ मानकर श्रद्धान करना और व्यवहारनय के निरूपण को असत्यार्थ मानकर

उसका श्रद्धान छोड़ना — ऐसा कहीं श्री समयसार में लिखा है ?

उत्तर – श्री समयसार, कलश 173 में कहा है कि 'सर्व ही हिंसादि व अहिंसादि में अध्यवसाय हैं, सो समस्त ही छोड़ना' ऐसा जिनदेवों ने कहा है। अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि 'इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है, सो सर्व ही छुड़ाया है—तो फिर सन्त पुरुष एक परम त्रिकाली ज्ञायक निश्चय ही को अङ्गीकार करके शुद्ध ज्ञानधनरूप निज महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते ?' ऐसा कहकर आचार्य भगवान ने खेद प्रगट किया है।

प्रश्न 77 – श्री समयसार-नाटक में व्यवहारभाव को क्या कहा है ?

उत्तर – असंख्यात लोकप्रमाण जो मिथ्यात्वभाव है, वह व्यवहारभाव है — ऐसा केवलीभगवान कहते हैं — ऐसा कहा है।

प्रश्न 78 – निश्चय-व्यवहार के विषय में श्री समयसार, गाथा 11 में क्या बताया है ?

उत्तर – व्यवहारनय, अभूतार्थ है और शुद्धनय, भूतार्थ है – ऐसा ऋषीश्वरों ने दर्शाया है; जो जीव, भूतार्थ का आश्रय करता है, वह जीव सम्यक्‌दृष्टि है।

प्रश्न 79 – निश्चयनय-व्यवहार के विषय में श्री समयसार, गाथा 56 में क्या बताया है ?

उत्तर – 'यह वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो 29 भाव कहे गये, वे व्यवहारनय से तो जीव के हैं, किन्तु निश्चयनय के मत में 29 बोलों में से कोई भी जीव के नहीं है' – ऐसा कहा है।

प्रश्न 80 – श्री प्रवचनसार, गाथा 94 में किसे छोड़ने और किसका आचरण करने को कहा है ?

उत्तर – 'मनुष्यव्यवहार को छोड़कर, मात्र ज्ञायक अचलित चेतना, वह ही मैं हूँ — ऐसा श्रद्धान–ज्ञान–आचरण' करने को कहा है।

प्रश्न 81 – निश्चय–व्यवहार के विषय में श्री समयसार, गाथा 6–7 में क्या बताया है?

उत्तर – चार प्रकार के अध्यात्मव्यवहार को भी छुड़ाया है और अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव करने को कहा है।

नोट– (1) उपचरितअसद्भूतव्यवहार– बुद्धिपूर्वक राग को आत्मा का कहना।
(2) अनुपचरितअसद्भतव्यवहार – अबुद्धिपूर्वक राग को आत्मा का कहना।
(3) उपचरितसद्भूतव्यवहारनय – राग का ज्ञान–ऐसा कहना।
(4) अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय – ज्ञान, सो आत्मा – ऐसा भेद करना।

प्रश्न 82 – श्री नियमसार, गाथा 50 मे हेय–उपादेय किसे बताया है?

उत्तर – पूर्वोक्त सर्व भाव, परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं; इसलिए हेय हैं; अन्तःतत्त्व ऐसा स्वद्रव्य–आत्मा उपादेय है—ऐसा बताया है।

प्रश्न 83 – शास्त्रों में जहाँ त्रिकाली स्वभाव, निश्चय और शुद्ध पर्याय, व्यवहार कहा हो — वहाँ क्या जानना चाहिए?

उत्तर – त्रिकाली स्वभाव, यथार्थ का नाम निश्चय – ऐसा निश्चयनय से निरूपण किया हो, उसे आश्रय करनेयोग्य सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और शुद्धपर्याय उपचार का नाम व्यवहार, ऐसा व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, वह अनादि–अनन्त नहीं है और आश्रय करने योग्य नहीं है, इस अपेक्षा असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।

प्रश्न 84 – शास्त्रों में जहाँ शुद्धपर्याय को निश्चय और भूमिकानुसार शुभभाव को व्यवहार कहा हो, वहाँ क्या जानना चाहिए?

उत्तर – शुद्धपर्याय, यथार्थ का नाम निश्चय – ऐसा निश्चनय से जो निरूपण किया हो, उसे प्रगट करनेयोग्य सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और भूमिकानुसार शुभभावों को उपचार का नाम व्यवहार, ऐसा व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे बन्ध का कारण, हेय जानकर, असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।

प्रश्न 85 – निश्चय और व्यवहार के विषय में मोक्षपाहुड़, गाथा 31 में कुन्दकुन्दभगवान ने क्या कहा है ?

उत्तर – जो व्यवहार में सोता है, अर्थात् जो व्यवहार की श्रद्धा छोड़कर, निश्चय की श्रद्धा करता है, वह योगी अपने आत्मकार्य में जागता है तथा जो व्यवहार में जागता है, वह अपने कार्य में सोता है; इसलिए व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है। श्री समाधितन्त्र, गाथा 78 में भी यही बताया है।

प्रश्न 86 – व्यवहार का श्रद्धान छोड़कर, निश्चयनय का श्रद्धान करना क्यों करना योग्य है ?

उत्तर – (1) **व्यवहारनय** = स्वद्रव्य— परद्रव्य को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना चाहिए। **निश्चयनय** = स्वद्रव्य–परद्रव्य को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण नहीं करता; यथावत् निरूपण करता है – सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका ग्रहण करना चाहिए।

(2) **व्यवहारनय** = स्वद्रव्य के भावों–परद्रव्य के भावों को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है – सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना चाहिए। **निश्चयनय** = स्वद्रव्य के भावों–परद्रव्य के भावों को किसी को किसी में

मिलाकर निरूपण नहीं करता; यथावत निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका ग्रहण करना चाहिए।

(3) **व्यवहारनय** = कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है - सो ऐसे श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है, इसलिए उसका त्याग करना चाहिए। **निश्चयनय** = कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण नहीं करता; यथावत् निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न 87 - आप कहते हो कि व्यवहारनय के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है, इसलिए उसका त्याग करना और निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिए उसका श्रद्धान करना, परन्तु जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

उत्तर - जिनमार्ग में कहीं तो निश्चनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है'— ऐसा जानना तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसे ही नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा (भङ्ग-भेद-सहयोग-सहचारी की अपेक्षा) उपचार किया है'— ऐसा जानना; इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है।

प्रश्न 88 - इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है, इसमें 'इस प्रकार' शब्द से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - व्यवहारकथन झूठा है; निश्चयकथन सच्चा है, इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है, अर्थात् हेय-उपादेय-ज्ञेय को जानने के नाम से ही दोनों नयों का ग्रहण है।

प्रश्न 89 - कुछ मनीषी ऐसा कहते हैं 'ऐसे भी हैं' और 'ऐसे भी है' इस प्रकार दोनों नयों का ग्रहण करना चाहिए - क्या उनका कहना गलत है ?

उत्तर – बिल्कुल गलत है, उन्हें जिनेन्द्रभगवान की आज्ञा का पता नहीं है। दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसे भी हैं और ऐसे भी है', इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्न 90 – वृहत् द्रव्यसंग्रह में हेय-उपादेय के विषय में क्या बताया है?

उत्तर – 'यद्यपि शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव परमात्मद्रव्य उपादेय है, (सदा आश्रय करने योग्य उपादेय है), तथापि हेयरूप अजीवद्रव्यों का भी कथन किया जाता है, क्योंकि हेयतत्त्व का परिज्ञान हुए बिना, उसका आश्रय छोड़कर, उपादेयतत्त्व का आश्रय नहीं किया जा सकता है' — ऐसा बताया है।

प्रश्न 91 – व्यवहारनय असत्यार्थ है, तो उनका उपदेश जिनमार्ग में किसलिए दिया? — एकमात्र निश्चयनय ही का निरूपण करना था?

उत्तर – ऐसा ही तर्क समयसार में किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है — जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छभाषा के बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार व्यवहार के बिना (संसार में संसारीभाषा के बिना) परमार्थ का उपादेश अशक्य है; इसलिए व्यवहार का उपदेश है। इस प्रकार निश्चय का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं। व्यवहारनय है, उसका विषय भी है, वह जाननेयोग्य है परन्तु अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।

प्रश्न 92 – व्यवहार के बिना, निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता, सो कहिए?

उत्तर – निश्चय से आत्मा, परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावों से अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है। उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे इसी प्रकार कहते

रहें, तब तो वे समझ नहीं पायें; इसलिए उनको व्यवहारनय से, शरीरादिक परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारक-पृथ्वीकायादिरूप जीव के विशेष किये, तब मनुष्य जीव है, नारकी जीव है, इत्यादि प्रकारसहित उन्हें जीव की पहिचान हुई। इस प्रकार व्यवहार बिना, निश्चय के उपदेश का न होना जानना।

प्रश्न 93 - शरीरादिकसहित जीव की पहिचान से क्या लाभ रहा?

उत्तर - तीन लाभ रहे; [अ] मकान-सोना-चाँदी-अलमारी-हीरा-जवाहरात-धर्म-अधर्म-आकाश-काल, जीव नहीं हैं। [आ] जगदीशचन्द्र वसु से पहले वैज्ञानिक ऐसा कहते थे कि एकेन्द्रिय पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु वनस्पति में जीव नहीं है। इससे हमें पता चला कि वे सब झूठे थे। [इ] अंग्रेज लोग कहते हैं कि मात्र मनुष्य को मारने में पाप है, गाय-भैंसादि को मारने में पाप नहीं है — इससे पता चला, वे भी झूठे हैं; इस प्रकार शरीरादिकसहित जीव की पहिचान से ये तीन लाभ हुए।

प्रश्न 94 - व्यवहारनय से शरीरादिकसहित जीव की पहिचान करायी, तब व्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना चाहिए? — सो कहिये।

उत्तर - व्यवहारनय से नर-नारक आदि पर्याय को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं माना लेना। वर्तमान पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उस ही को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा, सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से शरीरादिक जीव होते नहीं — ऐसा ही श्रद्धान करना। इस प्रकार व्यवहारनय का अङ्गीकार नहीं करना — ऐसा जान लेना।

प्रश्न 95 – व्यवहारनय से शरीरादिक को जीव कहा और निश्चय से शरीरादिकरहित जीव है – ऐसा बताने के पीछे क्या रहस्य है ?

उत्तर – वास्तव में निश्चय–व्यवहार बतलाकर, इसमें प्रथमानुयोग और करणानुयोग के शास्त्रों के अर्थ करने की बात समझायी है — ऐसा जानना। अर्थात्, गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड का अर्थ कैसे करना, यह बताया है।

प्रश्न 96 – इस प्रकार के निश्चय–व्यवहार के विषय में श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा 121 में क्या बताया है ?

उत्तर – 'व्यवहारनय से कहे जानेवाले एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकाय आदि 'जीवों में' इन्द्रियाँ, जीव नहीं हैं; और छह प्रकार की शास्त्रोक्त काय भी जीव नहीं हैं; उनमें जो ज्ञान है, वह जीव है — ऐसा ज्ञानी प्ररूपण करते हैं।'

प्रश्न 97 – निश्चय–व्यवहार के विषय में श्री समयसार कलश 39 में क्या बताया है ?

उत्तर – 'अहो ज्ञानीजनों ! वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त उनतीस भाव हैं, उन सबको एक पुद्गल की ही रचना जानों; इसलिए यह भाव, पुद्गल ही हो, आत्मा न हो; क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञान का पुञ्ज है; इसलिए वह इन वर्णादिक भावों से अन्य ही है।'

प्रश्न 98 – निश्चय–व्यवहार के विषय में श्री समयसार, कलश 40 में क्या बताया है ?

उत्तर – 'घी से भरे हुए घड़े को व्यवहारनय से 'घी का घड़ा' कहा जाता है, तथापि निश्चय से घड़ा, घीस्वरूप नहीं है; घी, घीस्वरूप है; घड़ा, मिट्टीस्वरूप है; उसी प्रकार वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियों इत्यादि के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धवाले जीव को सूत्र में

व्यवहारनय से पञ्चेन्द्रिय जीव, पर्याप्त जीव, बादर जीव, देव जीव, मनुष्य जीव इत्यादि कहा गया है, तथापि निश्चय से जीव उसस्वरूप नहीं है; वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियाँ आदि पुद्गलस्वरूप हैं; जीव, ज्ञानस्वरूप है।'

संयोगरूप निश्चय-व्यवहार का नौ बोलों द्वारा स्पष्टीकरण

प्रश्न 99 - 'मनुष्य जीव' पर निश्चय-व्यवहार का स्पष्टीकरण करो ?

उत्तर - 'शरीररहित जीव है' — ऐसा निश्चय से जो निरूपण किया, उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और मनुष्य जीव है — ऐसा व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना, क्योंकि श्री समयसार, कलश, 173 में, जितना पराश्रितव्यवहार है, वह सब जिनेन्द्रदेवों ने छुड़ाया है और निश्चयनय को अङ्गीकार करके निज महिमा में प्रवर्तन का आदेश दिया है।

प्रश्न 100 - निश्चय-व्यवहार से 'मनुष्य जीव' के विषय में श्री मोक्षपाहुड़, गाथा 31 में क्या बताया है ?

उत्तर - मनुष्य जीव हैं - ऐसे व्यवहार की श्रद्धा छोड़कर, मैं आत्मा हूँ, ऐसी श्रद्धा करता है, वह योगी अपने कार्य में जागता है तथा मैं मनुष्य हूँ, मैं मनुष्य हूँ –जो ऐसे व्यवहार में जागता है, वह अपने कार्य में सोता है; इसलिए मैं मनुष्य हूँ - ऐसे व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, मैं आत्मा हूँ ऐसे निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है।

प्रश्न 101 - मैं मनुष्य हूँ, ऐसे व्यवहारनय का श्रद्धान

छोड़कर मैं आत्मा हूँ, ऐसे निश्चयनय का श्रद्धान करना क्यों योग्य है ?

उत्तर – व्यवहारनय, स्वद्रव्य (आत्मा) परद्रव्यों (शरीर–मन वाणी) को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। सो 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; इसलिए उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय, स्वद्रव्य (आत्मा) परद्रव्यों (शरीर–मन–वाणी) को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण नहीं करता, यथावत् निरूपण करता है। 'सो मैं आत्मा हूँ; शरीर–मन–वाणी नहीं हूँ' — ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना।

प्रश्न 102 – आप कहते हो 'मनुष्य जीव' ऐसे व्यवहारनय के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करो और मैं शरीर–मन–वाणी रहित आत्मा हूँ — ऐसे निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करो, परन्तु जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

उत्तर – जिनमार्ग में जहाँ शरीर–मन–वाणी रहित, मैं आत्मा ही हूँ – ऐसा निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' – ऐसा जानना। तथा 'मैं मनुष्य हूँ' – ऐसे व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' – ऐसा जानना। मैं शरीर–मन–वाणीरूप मनुष्य नहीं हूँ; मैं तो आत्मा हूँ – इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है।

प्रश्न 103 – कोई–कोई विद्वान, 'निश्चय से मैं आत्मा हूँ और व्यवहारनय से मैं मनुष्य हूँ' दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसे भी हैं, ऐसे भी है' – ऐसा कहते हैं; क्या ऐसे माननेवाले झूठे हैं ?

उत्तर – झूठे ही हैं; क्योंकि दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ मानकर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है, अर्थात् मैं आत्मा भी हूँ और मनुष्य भी हूँ' — इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्न 104 – यदि 'मैं मनुष्य' ऐसा व्यवहारनय असत्यार्थ है तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिए दिया ? 'मैं आत्मा ही हूँ' – ऐसे निश्चयनय का ही निरूपण करना था।

उत्तर – मनुष्य, ऐसे व्यवहार के बिना, परमार्थ आत्मा का उपदेश अशक्य है; इसलिए मनुष्य, ऐसे व्यवहार का उपदेश है। निश्चय आत्मा को अङ्गीकार करने के लिए – मनुष्य, ऐसे व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं; व्यवहारनय है, उसका विषय भी है, वह जाननेयोग्य है परन्तु अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है।

प्रश्न 105 – मैं मनुष्य – ऐसे व्यवहार के बिना, निश्चय आत्मा का उपदेश कैसे नहीं होता ? सो कहिये।

उत्तर – निश्चयनय से तो आत्मा, परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसे जो नहीं पहिचानते उनसे इसी प्रकार कहते रहें, तब तो वे समझ नहीं पाये; इसलिए उनको व्यवहारनय से, शरीर-मन-वाणी की सापेक्षता द्वारा मनुष्य जीव है, इत्यादि प्रकारसहित जीव की पहिचान करायी, तब उन्हें जीव की पहिचान हुई। इस प्रकार मनुष्यव्यवहार के बिना, निश्चय आत्मा का उपदेश का न होना जानना।

प्रश्न 106 – मैं मनुष्य – ऐसे व्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना, सो कहिए ?

उत्तर – यहाँ व्यवहार से शरीर-मन-वाणीरूप मनुष्यपर्याय ही को जीव कहा, सो शरीर-मन-वाणीरूप मनुष्यपर्याय ही को जीव

नहीं मान लेना। वर्तमान मनुष्यपर्याय तो जीव–पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उसी को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीर–मन–वाणी को भी उपचार से जीव कहा, सो कथनमात्र ही है। परमार्थ से शरीरादिक, जीव होते नहीं – ऐसा ही श्रद्धान करना। इस प्रकार मनुष्य जीव है, ऐसे व्यवहारनय को अङ्गीकार नहीं करना — ऐसा जान लेना।

प्रश्न 107 – मैं मनुष्य हूँ – जो ऐसे व्यवहार को ही सच्चा मानता है, उसे शास्त्रों में किस–किस नाम से सम्बोधित किया है?

उत्तर – (1)श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में 'तस्य देशना नास्ति' कहा है। (2) श्री नाटक–समयसार में 'मूर्ख' कहा है। (3) श्री आत्मावलोकन में 'हरामजादीपना' कहा है। (4) श्री समयसार, कलश 55 में कहा है — 'यह उसका अज्ञान–मोह अन्धकार है, उसका सुलटना दुर्निवार है। (5) श्री प्रवचनसार में 'पद–पद पर धोखा खाता है' –ऐसा कहा है। (6) श्री समयसार और श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में मिथ्यादृष्टि आदि शब्दों से सम्बोधित किया है।'

प्रश्न 108 – पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध निज ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ – ऐसे निश्चय का श्रद्धान रखता हूँ और मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ — ऐसे व्यवहार की प्रवृत्ति रखता हूँ परन्तु आपने हमारे माने हुए निश्चय–व्यवहार दोनों नयों को झूठा बता दिया तो हम किस प्रकार समझें कि हमारे माने हुए निश्चय–व्यवहार सत्यार्थ कहलावे?

उत्तर – पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध निज ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ – ऐसा जो निश्चयनय से निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर

उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और मैं पण्डित कैलाशचन्द्र हूँ – ऐसा जो व्यवहारनय से निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।

प्रश्न 109 – मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ – ऐसे व्यवहारनय के त्याग करने का और पण्डित कैलाशचन्द्र नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध निज ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ – ऐसे निश्चयनय के अङ्गीकार करने का आदेश कहीं जिनवाणी में भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने दिया है ?

उत्तर – श्री समयसार, कलश 173 में आदेश दिश है कि मिथ्यादृष्टि की ऐसी मान्यता है कि — मैं निश्चय से पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध निज ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ और व्यवहार से मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ – यह मिथ्या अध्यवसाय है और ऐसे–ऐसे समस्त अध्यवसानों को छोड़ना, क्योंकि मिथ्यादृष्टि को निश्चय–व्यवहार कुछ होता ही नहीं – ऐसा अनादि से जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि में आया है। स्वयं अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि – मैं ऐसा मानता हूँ, ज्ञानियों को जो, मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ – ऐसा पराश्रितव्यवहार होता है, सो सर्व ही छुड़ाया है। तो फिर सन्तपुरुष, पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध एक परम त्रिकाली निज ज्ञायक निश्चय ही को अङ्गीकार करके, शुद्ध ज्ञानघनरूप निज महिमा में स्थिति करके केवलज्ञान क्यों प्रगट नहीं करते हैं। – ऐसा कहकर आचार्य भगवान ने खेद प्रगट किया है।

प्रश्न 110 – पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ – ऐसे निश्चयनय को अङ्गीकार करने और मैं पण्डित

कैलाशचन्द्र जैन हूँ – ऐसे व्यवहारनय के त्याग के विषय में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने क्या कहा है ?

उत्तर – श्री मोक्षप्राभृत, गाथा 31 में कहा है कि – मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ – जो ऐसे व्यवहार की श्रद्धा छोड़कर; पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्‌गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न स्वयंसिद्ध निज ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ – ऐसे निश्चयनय की श्रद्धा करता है, वह योगी अपने आत्मकार्य में जागता है, तथा मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ –जो ऐसे व्यवहार में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है। इसलिए मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ – ऐसे व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्‌गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ – ऐसे निश्चनय का श्रद्धान करना योग्य है।

प्रश्न 111 – मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ –ऐसे व्यवहारनय का श्रद्धान को छोड़कर, पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्‌गलों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ — ऐसे निश्चयनय का श्रद्धान करना क्यों योग्य है ?

उत्तर – (1) **व्यवहारनय** – **स्वद्रव्य** – पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्‌गलों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध निज ज्ञायक भगवान आत्मा; **परद्रव्य** – पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्‌गलशरीर – इस प्रकार स्वद्रव्य परद्रव्य को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ – ऐसे व्यवहारनय के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है, इसीलिए उसका त्याग करना। (2) **निश्चयनय** – स्वद्रव्य – पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्‌गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से

अभिन्न, स्वयंसिद्ध निज ज्ञायक भगवान आत्मा; परद्रव्य - पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलशरीर, इस प्रकार स्वद्रव्य परद्रव्य का यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है; इसलिए मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ - ऐसे ही निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना।

प्रश्न 112 - आप कहते हो कि मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ - ऐसे व्यवहारनय के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना तथा पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ -ऐसे निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना - यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे है ?

उत्तर - जिनमार्ग में कहीं तो, पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ - ऐसे निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' -ऐसा जानना। तथा कहीं मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ — ऐसे व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसे हैं नहीं, निमित्तादि की अपेक्ष उपचार किया है'-ऐसा जानना। इसलिए मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नहीं हूँ, मैं तो पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ - इस प्रकार जानने का नाम ही निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का ग्रहण है।

प्रश्न 113 - कुछ मनीषी ऐसा कहते हैं कि 'मैं पण्डित

कैलाशचन्द्र जैन भी हूँ और पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गल द्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा भी हूँ।' इस प्रकार हम निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का ग्रहण करते हैं -क्या उन महानुभावों का ऐसा कहना गलत है?

उत्तर - हाँ, बिल्कुल गलत है, क्योंकि ऐसे महानुभावों को जिनेन्द्रभगवान की आज्ञा का पता ही नहीं है। उन महानुभावों ने निश्चय-व्यवहार दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर कि व्यवहार से मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन भी हूँ और निश्चय से पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा भी हूँ - इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो निश्चय व्यवहार दोनों नयों का ग्रहण करना जिनवाणी में नहीं कहा है।

प्रश्न 114 - मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ - यदि ऐसा व्यवहारनय असत्यार्थ है, तो व्यवहार का उपदेश जिनवाणी में किसलिए दिया? पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ — एकमात्र ऐसे निश्चयनय का ही निरूपण करना था?

उत्तर - (1) ऐसा ही तर्क समयसार में किया है। वहाँ उत्तर दिया है कि जिस प्रकार म्लेच्छ का म्लेच्छभाषा बिना अर्थ ग्रहण कराने को कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ - ऐसे व्यवहार के बिना, पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ - ऐसे परमार्थ का उपदेश अशक्य है। इसलिए मैं

पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ – ऐसे व्यवहार का उपदेश है। (2) पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ – ऐसे निश्चय का ज्ञान कराने के लिए, मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ – ऐसे व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं। व्यवहारनय है, उसका विषय भी है, जाननेयोग्य है, परन्तु व्यवहारनय अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है।

प्रश्न 115 – मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ — ऐसे व्यवहार के बिना, पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ — ऐसे निश्चयनय का उपदेश कैसे नहीं होता? इसे समझाइए।

उत्तर – निश्चयनय से तो आत्मा, पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध वस्तु है, उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहें, तब तो वे समझ नहीं पाये; इसलिए उनको व्यवहारनय से, मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप-शरीर, इन्द्रिय-मन-वाणी, द्रव्यकर्मादिक परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा, मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप मनुष्य अथवा नारकी-देव-पृथ्वीकायादिकरूप हूँ; इस प्रकार जीव के विशेष किए, तब पण्डित केलाशचन्द्र जैन जीव है, बहू जीव है, कुत्ता जीव है, मक्खी जीव है, पृथ्वीकाय जीव है – इत्यादि चारों गतियों के शरीरसहित जीव की उन्हें पहिचान हुयी।

प्रश्न 116 – मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ – ऐसे व्यवहारनय से जीव की पहिचान करायी, तब मैं पण्डित कैलाशचन्द्र हूँ – ऐसे व्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना चाहिए?

उत्तर – व्यवहारनय से पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप

पर्याय को जीव कहा, सो पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप पर्याय को ही जीव नहीं माना लेना। पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप असमानजातीय वर्तमान पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उस ही को जीव मानना। पण्डित कैलाशचन्द्र नामरूप पुद्गलद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध ज्ञायक भगवान आत्मा के संयोग से पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा - सो कथनमात्र ही है। परमार्थ से पण्डित कैलाशचन्द्र जैन नामरूप शरीर, इन्द्रिय-मन-वाणी, द्रव्यकर्मादिक जीव होते ही नहीं — ऐसा श्रद्धान करना।

प्रश्न 117 - मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ -ऐसे व्यवहारनय के कथन को ही जो सच्चा मान लेता है, उस जीव को जिनवाणी में किस-किस नाम से सम्बोधित किया है ?

उत्तर - (1) मैं पण्डित कैलाशचन्द्र जैन हूँ — ऐसे व्यवहारनय के कथन को ही जो सच्चा मान लेता है, उसे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोक छः में कहा है कि 'तस्य देशना नास्ति।' श्री समयसार कलश 55 में कहा है कि — 'यह उसका अज्ञान-मोह अन्धकार है, उसका सुलटना दुर्निवार है।' श्री प्रवचनसार, गाथा 55 में कहा है कि — 'वह पद-पद पर धोखा खाता है।' श्री आत्मावलोकन में कहा है कि 'यह उसका हरामजादीपना है।'

कारण-कार्य का सात बोलों द्वारा स्पष्टीकरण

प्रश्न 118 - 'गुरु, कारण; ज्ञान हुआ, कार्य' इस पर निश्चय-व्यवहार का स्पष्टीकरण करो ?

उत्तर - गुरु, कारण; ज्ञान हुआ, कार्य — ऐसा व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना

और ज्ञान, आत्मा के ज्ञानगुण में से उस समय पर्याय की योग्यता से हुआ – ऐसा निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना, क्योंकि भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने श्री समयसार कलश 173 में, जितना भी पराश्रित कारण–कार्य है, वह सब जिनेन्द्रों ने छुड़ाया है और निश्चयनय से सच्चे कारण–कार्य को ग्रहण करके निज महिमा में प्रवर्तन का आदेश दिया है।

प्रश्न 119 – गुरु, कारण; ज्ञान हुआ, कार्य — ऐसे पराश्रित कारण–कार्य के विषय में श्री मोक्षपाहुड़, गाथा 31 में क्या बताया है ?

उत्तर – जो पराश्रित कारण–कार्य की श्रद्धा छोड़कर, स्वाश्रित कारण –कार्य की श्रद्धा करता है, वह योगी, अपने आत्मकार्य में जागता है तथा जो पराश्रित कारण–कार्य से (गुरु, कारण; ज्ञान हुआ, कार्य) लाभ मानता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है; इसलिए पराश्रित कारण–कार्य की श्रद्धा छोड़कर, स्वाश्रित कारण–कार्य की श्रद्धा करना योग्य है।

प्रश्न 120 – गुरु, कारण; ज्ञान हुआ, कार्य – ऐसे पराश्रित कारण–कार्य की श्रद्धा छोड़कर, स्वाश्रित कारण–कार्य की श्रद्धा करना क्यों योग्य है ?

उत्तर – **व्यवहारनय** = गुरु, कारण; ज्ञान हुआ, कार्य – ऐसे पराश्रित कारण–कार्य, किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना, तथा **निश्चयनय** = कारण–कार्य को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण नहीं करता है, यथावत् निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना।

प्रश्न 121 – आप कहते हो कि पराश्रित कारण-कार्य के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करो और स्वाश्रित कारण-कार्य के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करो परन्तु जिनमार्ग में स्वाश्रित-पराश्रित दोनों कारण-कार्य का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

उत्तर – जिनमार्ग में कहीं तो, आत्मा के ज्ञानगुण में से उस समय पर्याय की योग्यता से ज्ञान हुआ – ऐसा स्वाश्रित कारण-कार्य की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ, ऐसे ही है' ऐसा जानना। तथा कहीं, गुरु, कारण; ज्ञान, कार्य – ऐसा पराश्रित कारण-कार्य की मुख्यता लिए व्याख्यान हो, उसे 'ऐसे है नहीं, पराश्रित कारण-कार्य की अपेक्षा उपचार से कथन किया है' — ऐसा जानना। इस प्रकार (स्वाश्रित कारण-कार्य, सच्चा है और पराश्रित कारण-कार्य, झूठा है) जानने का नाम ही स्वाश्रित-पराश्रित दोनों कारण-कार्यों का ग्रहण है।

प्रश्न 122 – कोई विद्वान, स्वाश्रित कारण-कार्य को और पराश्रित कारण-कार्य को समान सत्यार्थ मानकर 'ऐसे भी है; और ऐसे भी है, ऐसा कहते हैं; क्या वे झूठे हैं ?'

उत्तर – झूठे ही हैं, क्योंकि स्वाश्रित-पराश्रित कारण-कार्य को समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है'— इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो स्वाश्रित-पराश्रित कारण-कार्य का ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्न 123 – यदि गुरु, कारण और ज्ञान हुआ, कार्य – ऐसा पराश्रित कारण-कार्य असत्यार्थ है तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिए दिया ? एकमात्र स्वाश्रित कारण-कार्य का ही निरूपण करना था ?

उत्तर - गुरु, कारण; ज्ञान हुआ, कार्य - ऐसे पराश्रित कारण-कार्य के बिना परमार्थ स्वाश्रित कारण-कार्य का उपदेश अशक्य है; निश्चयरूप स्वाश्रित कारण-कार्य को अङ्गीकार कराने के लिए गुरु, कारण; ज्ञान हुआ, कार्य - ऐसे पराश्रित कारण-कार्य द्वारा उपदेश देते हैं, परन्तु पराश्रित कारण-कार्य है, सो अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है।

प्रश्न 124 - जो जीव, पराश्रित कारण-कार्य को ही, अर्थात् गुरु, कारण; ज्ञान हुआ, कार्य को ही, सच्चा मानता है, उसे शास्त्रों में किस-किस नाम से सम्बोधित किया है?

उत्तर - (1) श्री पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में 'तस्य देशना नास्ति' कहा है, (2) श्री नाटक समयसार में 'मूर्ख' कहा है। (3) श्री आत्मावलोकन में 'हरामजादीपना' कहा है। (4) श्री समयसार, कलश 55 में 'यह उसका अज्ञान-मोह अन्धकार है, उसका सुलटना दुर्निवार है' —ऐसा कहा है, (5) श्री प्रवचनसार में 'पद-पद पर धोखा खाता है'—ऐसा कहा है, (6) श्री समयसार और मोक्षमार्ग-प्रकाशक में 'मिथ्यादृष्टि' आदि शब्दों से सम्बोधित किया है।

भेद-अभेद का स्पष्टीकरण

प्रश्न 125 - व्यवहार / भेद बिना, निश्चय / अभेद का उपदेश कैसे नहीं होता? इसको दूसरी तरह समझाइये।

उत्तर - निश्चय से तो आत्मा अभेदवस्तु है। उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे इसी तरह कहते रहें तब तो वे समझ नहीं पाये। तब उसको अभेदवस्तु में भेद उत्पन्न करके, ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप जीव के विशेष किए, तब जाननेवाला जीव है-देखनेवाला जीव है - इत्यादि प्रकारसहित जीव की पहिचान हुई। इस प्रकार व्यवहार / भेद बिना, निश्चय / अभेद के उपदेश का न होना जानना।

प्रश्न 126 – ज्ञान-दर्शनादि के भेदों से जीव की पहिचान कराने से क्या लाभ रहा ?

उत्तर – एकक्षेत्रावगाही शरीर, इन्द्रियाँ–भाषा–मन और द्रव्यकर्मों से भी दृष्टि हट गयी और अब, मात्र ज्ञान–दर्शनादि के भेदों पर दृष्टि रह गयी।

प्रश्न 127 – भेद से जीव की पहिचान करायी, तब भेदरूप व्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना चाहिए ?

उत्तर – अभेद आत्मा में ज्ञान–दर्शनादि भेद किए, सो उन्हें भेदरूप ही मान नहीं लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के अर्थ किये हैं; निश्चय से आत्मा अभेद ही है, उसी को जीव वस्तु मानना। संज्ञा –संख्या आदि से भेद कहे, सो कथनमात्र ही हैं। परमार्थ से द्रव्य और गुण भिन्न–भिन्न नहीं हैं – ऐसा ही श्रद्धान करना। इस प्रकार भेदरूप व्यवहारनय का विषय है, जाननेयोग्य है परन्तु अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है – ऐसा जानना।

प्रश्न 128 – ज्ञान-दर्शनादि के भेदों से जीव को बताया तथा अभेद, भेद से रहित है – ऐसा बताने के पीछे क्या रहस्य है ?

उत्तर – वास्तव में भेद–अभेद बतलाकर, इसमें द्रव्यानुयोग के शास्त्रों का अर्थ करने की बात समझायी है।

प्रश्न 129 – भेद-अभेद के विषय में, श्री प्रवचनसार, गाथा 106 के भावार्थ में क्या स्पष्ट किया है ?

उत्तर – 'द्रव्य में और सत्तादि गुणों में अपृथक्त्व होने पर भी अन्यत्व है, क्योंकि द्रव्य के और गुण के प्रदेश अभिन्न होने पर भी, द्रव्य और गुण में संज्ञा, संख्या, लक्षणादि भेद होने से (कथंचित) द्रव्य, गुणरूप नहीं है और गुण, द्रव्यरूप नहीं हैं।'

प्रश्न 130 – द्रव्य–गुण भेदरूप हैं या अभेदरूप हैं ?

उत्तर – द्रव्य–गुण, भेद–अभेद दोनोंरूप हैं।

प्रश्न 131 – द्रव्य–गुण, भेदरूप कैसे हैं ?

उत्तर – संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा भेदरूप हैं।

प्रश्न 132 – द्रव्य–गुण, अभेदरूप कैसे हैं ?

उत्तर – (1) प्रदेशों की अपेक्षा द्रव्य–गुण अभेदरूप हैं। (2) क्षेत्र की अपेक्षा द्रव्य–गुण अभेदरूप हैं, और (3) काल की अपेक्षा से द्रव्य–गुण अभेदरूप हैं।

प्रश्न 133 – द्रव्य–गुण में संज्ञा भेद कैसे हैं ?

उत्तर – एक का नाम द्रव्य है; दूसरे का नाम गुण है। यह संज्ञा अपेक्षा भेद है।

प्रश्न 134 – द्रव्य–गुण में संख्या अपेक्षा भेद कैसे हैं ?

उत्तर – द्रव्य, एक है और गुण, अनेक हैं – यह संख्या अपेक्षा भेद है।

प्रश्न 135 – द्रव्य–गुण, लक्षण की अपेक्षा भेदरूप कैसे हैं ?

उत्तर – (1) द्रव्य का लक्षण – गुणों का समूह है। (2) गुण का लक्षण – द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में और सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहे, उसे गुण कहते हैं — यह लक्षण अपेक्षा भेद है।

प्रश्न 136 – द्रव्य–गुण में प्रयोजन की अपेक्षा भेद कैसे है ?

उत्तर – द्रव्य, अभेदरूप है और गुणों का प्रयोजन भिन्न–भिन्न है, यह प्रयोजन अपेक्षा भेद है।

प्रश्न 137 – भेद–अभेद के विषय में मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवें अधिकार, पृष्ठ 284 में क्या बताया है ?

उत्तर – 'वहाँ जीवादि वस्तु अभेद है, तथापि उसमें भेद –कल्पना द्वारा व्यवहार से द्रव्य–गुण–पर्यायादिक के भेदों का निरूपण करते हैं।'

भेद–अभेद के निश्चय, व्यवहार का नौ बोलों द्वारा स्पष्टीकरण

प्रश्न 138 – 'ज्ञानवाला जीव है' –इस वाक्य में निश्चय –व्यवहार के विषय में क्या जानना चाहिए?

उत्तर – व्यवहारनय से ज्ञानवाला जीव है – ऐसा निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना और निश्चयनय से, आत्मा अभेद है – ऐसा निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना, क्योंकि भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने श्री समयसार, कलश 173 में कहा है कि जितना भेदरूप व्यवहार है, वह सब जिनेन्द्रदेवों ने छुड़ाया है और निश्चय को अङ्गीकार करके निज महिमा में प्रवर्तन का आदेश दिया है।

प्रश्न 139 – 'ज्ञानवाला जीव है'— ऐसे निश्चय–व्यवहार के विषय में कुन्दकुन्दभगवान ने श्री मोक्षपाहुड़, गाथा 31 में क्या बताया है?

उत्तर – ज्ञानवाला जीव है – ऐसे भेदरूप व्यवहार की श्रद्धा छोड़कर, मैं अभेद आत्मा हूँ – जो ऐसी श्रद्धा करता है, वह योगी अपने कार्य में जागता है तथा मैं ज्ञानवाला आत्मा हूँ – ऐसे व्यवहार में जागता है, वह अपने कार्य में सोता है; इसलिए ज्ञानवाला जीव है, ऐसे भेदरूप व्यवहार का श्रद्धान छोड़कर, मैं अभेद आत्मा हूँ — ऐसे निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है।

प्रश्न 140 – 'ज्ञानवाला जीव है' – ऐसे भेदरूप व्यवहार

का श्रद्धान छोड़कर, मैं अभेद आत्मा हूँ – ऐसे निश्चयनय का श्रद्धान करना क्यों योग्य है ?

उत्तर – (1) व्यवहारनय, अभेदरूप आत्मा को 'ज्ञानवाला जीव है' – ऐसा भेदरूप निरूपण करता है, सो भेदरूप श्रद्धान से ही मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना। तथा (2) अभेदरूप आत्मा को निश्चयनय भेदरूप निरूपण नहीं करता है, यथावत् निरूपण करता है, सो ऐसे अभेदरूप श्रद्धान से ही सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना।

प्रश्न 141 – आप कहते हो 'ज्ञानवाला जीव है' – ऐसे भेदरूप व्यवहारनय के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करो और आत्मा अभेदरूप है – ऐसे निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्तव होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करो। परन्तु जिनमार्ग में दोनों (भेद-अभेद) नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

उत्तर – जिनमार्ग में कहीं तो, आत्मा अभेदरूप है – ऐसा निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है'— ऐसा जानना। तथा कहीं ज्ञानवाला जीव है — ऐसा भेदरूप व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसा है नहीं' भेदादि की अपेक्षा कथन किया है'— ऐसा जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है।

प्रश्न 142 – कोई-कोई विद्वान, निश्चयनय से आत्मा अभेद है और व्यवहारनय से आत्मा भेदरूप है; इस प्रकार दोनों नयों के व्याख्यान को समान, सत्यार्थ जानकर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' ऐसा मानते हैं – क्या वे झूठे हैं।

उत्तर – हाँ, झूठे ही हैं –क्योंकि दोनों नयों के व्याख्यान को

समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है, इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।'

प्रश्न 143 – यदि ज्ञानवाला जीव है — ऐसा भेदरूप व्यवहारनय असत्यार्थ है तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिए दिया ? अभेदरूप आत्मा है – ऐसे निश्चयनय का ही निरूपण करना था।

उत्तर – ज्ञानवाला जीव है – ऐसे भेदरूप व्यवहार के बिना, अभेद आत्मा का उपदेश अशक्य है; इसलिए ज्ञानवाला जीव है –ऐसे भेदरूप व्यवहारनय का उपदेश है। अभेदरूप आत्मा को अङ्गीकार कराने के लिए भेदरूप व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं। भेदरूप व्यवहारनय है, उसका विषय भी है, परन्तु भेदरूप व्यवहारनय अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है।

प्रश्न 144 – ज्ञानवाला जीव है – ऐसे भेदरूप व्यवहार के बिना, अभेदरूप निश्चय आत्मा का उपेदश कैसे नहीं होता ?

उत्तर – निश्चयनय से आत्मा अभेदवस्तु है। उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहें, तब वे कुछ समझ नहीं पायें। तब उनको अभेदरूप आत्मा में, भेद उत्पन्न करके ज्ञानादि गुणरूप जीव के विशेष किये, तब जाननेवाला जीव है, इत्यादि प्रकारसहित जीव की पहिचान करायी। इस प्रकार भेदरूप व्यवहार के बिना, अभेदरूप निश्चय का उपदेश न होना जानना।

प्रश्न 145 – 'ज्ञानवाला जीव' – ऐसे भेदरूप व्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना चाहिए ?

उत्तर – अभेद आत्मा में ज्ञान आदि भेद किए, सो उसे भेदरूप ही नहीं मान लेना चाहिए, क्योंकि भेद तो समझाने के अर्थ किए हैं। निश्चय से आत्मा अभेद ही है, उसी को जीव वस्तु मानना। संज्ञा

-संख्या आदि भेद कहे, सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से द्रव्य और गुण भिन्न-भिन्न नहीं हैं – ऐसा ही श्रद्धान करना। इस प्रकार भेदरूप व्यवहार के बिना, अभेदरूप निश्चय के उपदेश का न होना जानना।

प्रश्न 146 – जो भेदरूप व्यवहार को ही सच्चा मानता है, उसे जिनवाणी में किस-किस नाम से सम्बोधित किया है?

उत्तर – (1) श्री पुरुषार्थसिद्धियुपाय गाथा 6 में कहा है कि 'तस्यदेशना नास्ति'। (2) श्री नाटक समयसार में 'मूर्ख' कहा है। (3) श्री आत्मावलोकन में कहा है कि 'यह उनका हरामजादीपना है।' (4) श्री समयसार, कलश 55 में कहा है कि 'अज्ञान-मोह अन्धकार है, उसका सुलटना दुर्निवार है'। (5) श्री प्रवचनसार, गाथा 55 में कहा है कि 'वह पद-पद पर धोखा खाता है।' (6) श्री समयसार व श्री मोक्षमार्गप्रकाशक आदि सब ग्रन्थों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य, सम्यक्त्व से रहित, अनीति आदि नामों से सम्बोधित किया है।

'उभयाभासी की मान्यता अनुसार निश्चय से मैं द्रव्यकर्म, नोकर्म-भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञानदर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेद वस्तू हूँ और व्यवहार से मैं ज्ञान -दर्शनवाला जीव हूँ। इस वाक्य पर भेद-अभेद के दस प्रश्नोत्तरों द्वारा स्पष्टीकरण।'

प्रश्न 147 – मुझ निजात्मा, द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेद वस्तु है – ऐसा अभेदरूप निश्चय का श्रद्धान रखता हूँ और मैं ज्ञान-दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसे भेदरूप व्यवहार की प्रवृत्ति रखता हूँ – परन्तु आपने हमारे निश्चय-व्यवहार दोनों को झूठा बता दिया, तो हम निश्चय-व्यवहार को किस प्रकार समझें कि हमारा माना हुआ निश्चय-व्यवहार सत्यार्थ कहलाये?

उत्तर – मुझ निज आत्मा, द्रव्यकर्म–नोकर्म–भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञानदर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेद वस्तु है – ऐसा अभेदरूप निश्चय से जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसा भेदरूप व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।

प्रश्न 148 – मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसे भेदरूप व्यवहार का त्याग करने का और मुझ निजात्मा, द्रव्यकर्म–नोकर्म–भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेद वस्तु है – ऐसे अभेदरूप निश्चयनय को अङ्गीकार करने का आदेश कहीं भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने दिया है ?

उत्तर – श्री समयसार, कलश173 में आदेश दिया है कि मिथ्यादृष्टि की ऐसी मान्यता है कि – निश्चय से मुझ आत्मा, द्रव्यकर्म–नोकर्म –भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि–स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेद वस्तु है और व्यवहार / भेद से मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ – यह मिथ्या अध्यवसाय है और ऐसे–ऐसे समस्त अध्यवसानों को छोड़ना, क्योंकि मिथ्यादृष्टि को भेद–अभेद, निश्चय–व्यवहार होता ही नहीं है – ऐसा अनादि से जिनेन्द्रभगवान की दिव्यध्वनि में आया है। स्वयं अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं – मैं ऐसा मानता हूँ कि ज्ञानियों को मैं ज्ञानदर्शनवाला जीव हूँ – ऐसा भेदरूप पराश्रित व्यवहार होता है, सो सर्व ही छुड़ाया है, तो फिर सन्तपुरुष, द्रव्यकर्म –नोकर्म–भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेद वस्तु परम त्रिकाली निज ज्ञायक निश्चय ही को अङ्गीकार करके, शुद्ध ज्ञानघनरूप निज महिमा में स्थिति

करके क्यों केवलज्ञान प्रगट नहीं करते हैं? – ऐसा कहकर आचार्य भगवान ने खेद प्रगट किया है।

प्रश्न 149 – मुझ निजात्मा द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेदवस्तु है – ऐसे अभेदरूप निश्चयनय को अङ्गीकार करने और मैं ज्ञान-दर्शनवाला जीव हूँ –ऐसे भेदरूप व्यवहारनय के त्याग के विषय में भगवानकुन्दकुन्दाचार्य ने क्या कहा है?

उत्तर – श्री मोक्षप्राभृत, गाथा 31 में कहा है 'मैं ज्ञान-दर्शनवाला जीव हूँ – जो ऐसे भेदरूप व्यवहार की श्रद्धा छोड़कर, मुझ निज आत्मा द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेदवस्तु है – ऐसे अभेदरूप निश्चयनय की श्रद्धा करता है, वह योगी अपने आत्मकार्य में जागता है। तथा मैं ज्ञान-दर्शनवाला जीव हूँ – जो ऐसे भेदरूप व्यवहार में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है; इसलिए मैं ज्ञान-दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसे भेदरूप व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, मुझ निज आत्मा द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयं-सिद्ध अभेदवस्तु है – ऐसे अभेदरूप निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है।'

प्रश्न 150 – मैं ज्ञान-दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसे भेदरूप व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, मुझ निज आत्मा, द्रव्यकर्म-नोकर्म -भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयं-सिद्ध अभेदवस्तु है – ऐसे अभेदरूप निश्चयनय का श्रद्धान करना क्यों योग्य है।

उत्तर – (1) **व्यवहारनय** = मुझ निज आत्मा द्रव्यकर्म-नोकर्म -भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न,

स्वयंसिद्ध अभेदवस्तु है – यह स्वद्रव्य; मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ — यह परद्रव्य[1]; इस प्रकार अभेदरूप स्वद्रव्य और भेदरूप

(1. अभेद को स्वद्रव्य कहा, इसकी अपेक्षा भेद को परद्रव्य कहा है।)

परद्रव्य को, किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; अतः मैं ज्ञान–दर्शनवाला हूँ – सो ऐसे भेदरूप व्यवहारनय के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना। (2) **निश्चयनय** = अभेदरूप स्वद्रव्य और भेदरूप परद्रव्य का यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है। मुझ निज आत्मा –द्रव्यकर्म–नोकर्म–भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेदवस्तु हूँ – ऐसे अभेदरूप निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना।

प्रश्न 151 – आप कहते हो कि भेदरूप व्यवहारनय के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना और अभेदरूप निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना – परन्तु जिनमार्ग में भेद–अभेदरूप निश्चय–व्यवहार दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण है ?

उत्तर – जिनमार्ग में कहीं तो मुझ निज आत्मा, द्रव्यकर्म –नोकर्म–भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेदवस्तु है – ऐसे अभेदरूप निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ, ऐसे ही है' – ऐसा जानना। तथा कहीं मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसे भेदरूप व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, भेदरूप व्यवहारनय की अपेक्षा कथन किया है'– ऐसा जानना। इस प्रकार मैं ज्ञान–दर्शन भेदवाला जीव नहीं हूँ; मुझ निज आत्मा तो द्रव्यकर्म

–नोकर्म–भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेदवस्तु है – इस प्रकार जानने का नाम ही भेद–अभेदरूप निश्चय–व्यवहार दोनों नयों का ग्रहण है।

प्रश्न 152 – कुछ मनीषी ऐसा कहते हैं कि –मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव भी हूँ, अर्थात् भेदरूप भी हूँ; और मुझ निज आत्मा, द्रव्यकर्म –नोकर्म–भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेदवस्तुरूप भी है – इस प्रकार हम अभेद–भेदरूप निश्चय–व्यवहार दोनों नयों का ग्रहण करते हैं – क्या उन महानुभावों का ऐसा कहना गलत है ?

उत्तर – हाँ, बिल्कुल गलत है क्योंकि ऐसे महानुभावों को जिनेन्द्रभगवान की आज्ञा का पता नहीं है। उन महानुभावों ने अभेद –भेदरूप निश्चय–व्यवहार दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर, व्यवहार से मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ और निश्चय से मुझ निज आत्मा, द्रव्यकर्म–नोकर्म–भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेदवस्तु भी है – इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो अभेद–भेदरूप निश्चय–व्यवहार दोनों नयों का ग्रहण करना जिनवाणी में नहीं कहा है।

प्रश्न 153 – मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ – यदि ऐसा भेदरूप व्यवहानय असत्यार्थ है तो उसका उपदेश ही जिनवाणी में किसलिए दिया ? मुझ निज आत्मा, द्रव्यकर्म–नोकर्म–भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेदवस्तु है – ऐसे एकमात्र अभेद निश्चयनय का ही निरूपण करना था ?

उत्तर – (1) ऐसा ही तर्क समयसार में किया है। वहाँ उत्तर दिया है कि जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छभाषा के बिना, अर्थ ग्रहण कराने का कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव

हूँ — ऐसे भेदरूप व्यवहार के बिना, मुझ निज आत्मा, द्रव्यकर्म –नोकर्म–भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयं–सिद्ध अभेदवस्तु है – ऐसे अभेद परमार्थ का उपदेश अशक्य है। इसलिए मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसे भेदरूप व्यवहार का उपदेश है। (2) मुझ निज आत्मा, द्रव्यकर्म–नोकर्म –भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयं–सिद्ध अभेदवस्तु है – ऐसे अभेदरूप निश्चय का ज्ञान कराने के लिए मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसे भेदरूप व्यवहार का उपदेश है। भेदरूप व्यवहारनय है, उसका उपदेश भी है, जानने योग्य है, परन्तु भेदरूप व्यवहारनय अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है।

प्रश्न 154 – मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसे भेदरूप व्यवहार के बिना, मुझ निजात्मा द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेदवस्तु है – ऐसे अभेद निश्चयनय का उपदेश कैसे नहीं होता ?

उत्तर – निश्चयनय से मुझ निज आत्मा, द्रव्यकर्म–नोकर्म –भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेदवस्तु है; उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहे, तब तो वे समझ नहीं पाये; इसलिए उनको अभेदवस्तु में भेद उत्पन्न करके, ज्ञान–दर्शनादि गुण–पर्यायरूप जीव के विशेष किये, तब जाननेवाला जीव है, देखनेवाला जीव है – इत्यादि गुणभेद –सहित उनको जीव की पहिचान हुई। इस प्रकार मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसे भेदरूप व्यवहार के बिना, अभेदरूप निश्चय का उपदेश न होना जानना।

प्रश्न 157 – मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसे भेदरूप व्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना, सो समझाइये ?

उत्तर – मुझ निज आत्मा, द्रव्यकर्म–नोकर्म–भावकर्मरूप परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान–दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेद–आत्मा में ज्ञान–दर्शनादि भेद किये, सो उसे भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसे भेद तो अभेद आत्मा को समझाने के लिए किये हैं। निश्चय से मुझ निज आत्मा अभेद ही है, उसी को जीववस्तु मानना। संज्ञा, संख्या, लक्षण आदि से भेद कहे, सो कथनमात्र ही हैं; परामार्थ से भिन्न–भिन्न नहीं है – ऐसा ही श्रद्धान करना। इस प्रकार मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसा भेदरूप व्यवहार अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है।

प्रश्न 156 – मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ – ऐसे भेदरूप व्यवहारनय के कथन को ही जो सच्चा मान लेता है उस जीव को जिनवाणी में किस–किस नाम से सम्बोधित किया है?

उत्तर – (1) मैं ज्ञान–दर्शनवाला जीव हूँ — ऐसे भेदरूप व्यवहारनय के कथन को ही जो सच्चा मान लेता है, उसे श्री पुरुषार्थ सिद्धियुपाय श्लोक 6 में कहा है 'तस्य देशना नास्ति' (2) श्री समयसार, कलश 55 में कहा है कि 'यह उसका अज्ञान–मोह अन्धकार है, उसका सुलटना दुर्निवार है।' (3) श्री प्रवचनसार, गाथा 55 में कहा है कि 'वह पद–पद पर धोखा खाता है।' (4) श्री आत्मावलोकन में कहा है कि 'यह उसका हरामजादीपना है।'

निश्चय–व्यवहार मोक्षमार्ग का स्पष्टीकरण

प्रश्न 157 – व्यवहार के बिना निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता? इसे मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में समझाइये?

उत्तर – निश्चय से वीतरागभाव मोक्षमार्ग है, उसे जो नहीं पहिचानते, उनको ऐसे ही कहते रहें, तब तो वे समझ नहीं पाये; तब उनको तत्त्वश्रद्धान–ज्ञानपूर्वक, परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता

द्वारा, व्यवहारनय से व्रत-शील-संयमादि को वीतरागभाव के विशेष बतलाये, तब उन्हें वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग की पहिचान हुई; इस प्रकार व्यवहार के बिना, निश्चय के उपदेश का न होना जानना।

प्रश्न 158 – ज्ञानी के अस्थिरता सम्बन्धी व्रत-शीलादि को उपचार से मोक्षमार्ग कहने से क्या लाभ रहा ?

उत्तर – ज्ञानी को भूमिकानुसार इसी प्रकार का शुभभाव होगा; अन्य प्रकार का नहीं, ऐसा पता चल जाता है।

प्रश्न 159 – (1) 'तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक, (2) परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा, (3) व्यवहारनय से व्रत-शीलादि की मोक्षमार्ग कहा' इस वाक्य को चौथे गुणस्थान में लगाकर बताओ ?

उत्तर – (1) चौथे गुणस्थान में निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-स्वरूपाचरणचारित्र की प्राप्ति हुई है, उसके लिए 'तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक' कहा है।

(2) कुदेव-कुगुरु और कुशास्त्र को न मानने तथा मद्य-माँस-मधु न खाते हुए की अपेक्षा 'परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा' कहा है।

(3) व्यवहारनय से सच्चे देवादि तथा सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है — इस प्रकार जानना।

प्रश्न 160 – (1) तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक, (2) परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा, (3) व्यवहारनय से व्रत-शीलादि को मोक्षमार्ग कहा —इस वाक्य को पाँचवें गुणस्थान में लगाकर बताओ ?

उत्तर – (1) पाँचवें गुणस्थान में देशचारित्ररूप शुद्धि प्रगट हुई है – उसके लिए 'तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक' कहा है।

(2) बारह अणुव्रतादि से विरुद्धता न होने की अपेक्षा – 'परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा' कहा है।

(3) व्यवहारनय से बारह अणुव्रतादि को श्रावकपना कहा – इस प्रकार जानना।

प्रश्न 161 – 'तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक' किसे लागू पड़ता है और किसे नहीं ?

उत्तर – चौथे गुणस्थान से सभी ज्ञानियों को ही लागू पड़ता है। द्रव्यलिङ्गी मुनि-श्रावकों को लागू नहीं पड़ता है।

प्रश्न 162 – 'परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा' से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर – भूमिकानुसार अस्थिरता सम्बन्धी शुभभावों के विरुद्ध, धर्मविरोधी कार्यों का अभाव होना – यह तात्पर्य है।

प्रश्न 163 – किस जीव के व्रत-शीलादि को व्यवहारनय से मोक्षमार्ग कहा ?

उत्तर – जिसे (वीतरागभाव)अनुपचार हुआ है – ऐसे ज्ञानियों के व्रत-शीलादि को मोक्षमार्ग कहा है। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गीमुनि आदि के व्रत-शीलादि को नहीं कहा है।

प्रश्न 164 – व्यवहारनय से ज्ञानी के व्रत-शीलादि को मोक्षमार्ग कहा, तब व्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना चाहिए ?

उत्तर – (1) परद्रव्य का निमित्त मिटने की अपेक्षा से व्रत-शील-संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना। (2) क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जाए; परन्तु कोई द्रव्य, किसी द्रव्य

के आधीन है नहीं। (3) इसलिए आत्मा, अपने भाव जो रागादिक हैं; उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है; इसलिए निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। (4) वीतरागभावों के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य-कारणपना है; (5) इसलिए व्रतादि को मोक्षमार्ग कहे सो कथनमात्र ही है; (6) परमार्थ से बाह्यक्रिया, मोक्षमार्ग नहीं है - ऐसा ही श्रद्धान करना। इस प्रकार व्यवहारनय अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है, ऐसा जानना।

प्रश्न 165 - व्यवहारनय से ज्ञानी के व्रत-शीलादि को मोक्षमार्ग कहा, तथा निश्चयनय से वीतरागभावरूप शुद्धि प्रगट हुई, उसे ही मोक्षमार्ग कहा — इसमें क्या रहस्य है ?

उत्तर - वास्तव में वीतरागता ही मोक्षमार्ग है; अस्थिरता सम्बन्धी राग, मोक्षमार्ग नहीं है; बन्धमार्ग है। इसमें चरणानुयोग के शास्त्रों का अर्थ करने की बात समझायी है।

प्रश्न 166 - चौथे गुणस्थान की मिश्रदशा में निमित्त -नैमित्तिकपना क्या है ?

उत्तर - श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय सम्यग्दर्शन तथा स्वरूपाचरण -चारित्र, नैमित्तिक है; सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति राग व सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा, निमित्त है।

प्रश्न 167 - चौथे गुणस्थान में अशुद्धि अंश का तथा शरीर की क्रिया का, किसका किसके साथ निमित्त-नैमित्तिक -सम्बन्ध है ?

उत्तर - सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति राग व सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा (अशुद्धि अंश), नैमित्तिक है; चारित्रमोहनीय द्रव्यकर्म का उदय, निमित्त है तथा हाथ जोड़ना, शब्दरूप वचन आदि शारीरिक क्रिया, नैमित्तिक है; सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभराग, निमित्त है।

प्रश्न 168 – पाँचवें गुणस्थान की मिश्रदशा में निमित्त-नैमित्तिक क्या है ?

उत्तर – देशचारित्ररूप वीतरागता, नैमित्तिक है; बारह अणुव्रतादि का राग, निमित्त है।

प्रश्न 169 – पाँचवें गुणस्थान में अशुद्धि अंश का तथा अणुव्रतादिरूप शरीर की क्रिया का, किसका-किसके साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है ?

उत्तर – बारह अणुव्रतादि का राग (अशुद्धि अंश), नैमित्तिक है; चारित्रमोहनीय द्रव्यकर्म का उदय, निमित्त है तथा बाहर अणुव्रतादिरूप शरीर की क्रिया, नैमित्तिक है; बारह अणुव्रतादि का शुभभाव, निमित्त है।

प्रश्न 170 – छठवें गुणस्थान की मिश्रदशा में निमित्त-नैमित्तिकपना क्या है ?

उत्तर – सकलचारित्ररूप शुद्धि, नैमित्तिक है; अट्ठाईस मूलगुणादि का विकल्प, निमित्त है।

प्रश्न 171 – छठवें गुणस्थान में अशुद्धि अंश का तथा अट्ठाईस मूलगुणादिरूप शरीर की क्रिया का किसका किसके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ?

उत्तर – अट्ठाईस मूलगुणादि का विकल्प, नैमित्तिक है; चारित्र-मोहनीयद्रव्यकर्म का उदय, निमित्त है तथा अट्ठाईस मूलगुणादिरूप शरीर की क्रिया, नैमित्तिक है; भावलिङ्गी मुनि का अट्ठाईस मूलगुणादि का शुभभाव, निमित्त है।

प्रश्न 172 – उपरोक्त निमित्त-नैमित्तिक बताने के पीछे क्या रहस्य है ?

उत्तर – (1) शरीर–मन–वाणी द्रव्यकर्म की क्रिया का कर्ता सर्वथा पुद्गलद्रव्य ही है। आत्मा का पुद्गल की क्रिया से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। (2) अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेकर जो शुद्धि प्रगटी, वह ही मोक्षमार्ग है। (3) ज्ञानियों को जो भूमिकानुसार अस्थिरता का राग होता है, उसे बन्ध का कारण दुःखरूप जानते हैं। (4) अस्थिरता का भाव = भाव्य और द्रव्यकर्म का उदय, भावक है। ज्ञानी उसका तिरस्कार करके अपने में एकाग्र होकर परिपूर्णदशा की प्राप्ति – यह निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध जानने का फल है।

प्रश्न 173 – 'वीतरागभावों के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य–कारणपना है; इसलिए व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है — ऐसा ही श्रद्धान करना।' इस वाक्य को मुनिदशा में लगाकर बताओ ?

उत्तर – सकलचारित्ररूप मुनिदशा, नैमित्तिककार्य तथा अट्ठाईस मूलगुणादि का विकल्प, निमित्तकारण है; इसलिए मूलगुणदि को मुनिपना कहा, सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से अट्ठाईस मूलगुणादि मुनिपना नहीं है — ऐसा ही श्रद्धान करना।

प्रश्न 174 – वीतरागभावों के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य–कारणपना है, इसमें 'कदाचित्' शब्द क्या सूचित करता है ?

उत्तर – चौथे, पाँचवें, गुणस्थान में गुणस्थान में शब्द सविकल्पदशा में 'कदाचित्' लागू पड़ता है। केवलज्ञानी को, अज्ञानी को तथा निर्विकल्पदशा में साधक को 'कदाचित्' शब्द लागू नहीं पड़ता है।

प्रश्न 175 – जब बाहरी क्रिया मुनिपना नहीं है तो नग्नपने आदि शरीर की क्रियाओं से मुनिपने की पहचान क्यों करायी है ?

उत्तर – आत्मा अरूपी, आत्मा के गुण अरूपी और आत्मा की सकलचारित्ररूप निश्चय मुनिपना / शुद्धपर्याय अरूपी और अट्ठाईस मूलगुणरूप निश्चय मुनिपना / व्यवहार / मुनिपना / अशुद्धपर्याय भी अरूपी हैं। अब, उसका ज्ञान कैसे कराया जावे ? (1) तब वहाँ निश्चय की मुख्यता रखकर, धर्मविरोधी कार्यों का अभाव होने से, जो नग्न हो, पीछी–कमण्डल के अलावा कुछ न रखता हो, जंगल में रहता हो, उद्दिष्ट आहार न लेता हो, वह मुनि है – ऐसा कहा। (2) यहाँ पर ऐसा समझना कि वीरागभावमय सकलचारित्ररूप निश्चय–मुनिपने का अट्ठाईस मूलगुणरूप व्यवहारमुनिपने में उपचार करके; और अट्ठाईस मूलगुणरूप व्यवहारमुनिपने का शरीरादि की क्रिया में उपचार का उपचार करके, उसे मुनि कहा है। (3) यहाँ ऐसा जानना कि बाहरी क्रिया तो सर्वथा पुद्गल की ही है; उससे मुनिपने का सम्बन्ध ही नहीं; (4) परन्तु भूमिकानुसार अट्ठाईस मूलगुणादि को व्यवहारमुनिपना कहा, वह भी कहनेमात्र मुनिपना है; वास्तव में मुनिपना नहीं है। वास्तविक मुनिपना तो सकलचारित्र शुद्धोपयोगरूप ही है।

प्रश्न 176 – निश्चय–व्यवहारमोक्षमार्ग के सम्बन्ध में जिनवाणी ने क्या बताया है ?

उत्तर – (1) महाव्रतादि होने पर वीतरागचारित्र होता है — ऐसा सम्बन्ध जानकर, महाव्रतादि में चारित्र का उपचार किया है; निश्चय से निःकषायभाव है, वही सच्चा चारित्र है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 230]

(2) मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है; जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाए, सो निश्चयमोक्षमार्ग है, और जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का

निमित्त है वे सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाये सो व्यवहारमोक्षमार्ग है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाश, पृष्ठ 248]*

(3) व्रत-तप आदि मोक्षमार्ग है नहीं; निमित्त की अपेक्षा उपचार से व्रतादि को मोक्षमार्ग कहते हैं। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ 250]*

(4) निचलीदशा में कितने ही जीवों को शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का युक्तपना पाया जाता है; इसलिए उपचार से व्रतादिक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कहा है; वस्तु का विचार करने पर शुभोपयोग, मोक्ष का घातक ही है क्योंकि बन्ध का कारण, वह ही मोक्ष का घातक है — ऐसा श्रद्धान करना। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 255]*

(5) एकदेश व सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावकदशा -मुनिदशा होती है क्योंकि इनके निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है - ऐसा जानकर, श्रावक-मुनिधर्म के विशेष पहचानकर, जैसा अपना वीतरागभाव हुआ हो, वैसा अपने योग्य धर्म को साधते हैं। वहाँ जितने अंश में वीतरागता होती है, उसे कार्यकारी जानते हैं; जितने अंश में राग रहता है, उसे हेय जानते हैं; सम्पूर्ण वीतरागता को परमधर्म मानते हैं — ऐसा चरणानुयोग का प्रयोजन है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 271]

(6) धर्म तो निश्चयरूप मोक्षमार्ग है, वही है; उसके साधनादिक उपचार से धर्म हैं। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 277]*

(7) निश्चयस्वरूप, सो भूतार्थ है; व्यवहारस्वरूप है, सो उपचार है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 279]*

(8) चारित्र दो प्रकार का है — एक सराग है, एक वीतराग है। वे ऐसा जानना कि जो राग है, वह चारित्र का स्वरूप नहीं है; चारित्र में दोष है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 254]*

(9) कोई वीतरागभावरूप तप को न जाने और अनशनादि

शुभभावों को तप जानकर संग्रह करे तो संसार में ही भ्रमण करेगा। बहुत क्या इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष, बाह्यसाधन की अपेक्षा उपचार से किए हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ 233]*

इसलिए निर्णय करना चाहिए कि निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान - चारित्र से व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप तथा फल विरुद्ध ही है।

निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का नौ बोलों द्वारा स्पष्टीकरण

प्रश्न 177 - 'बारह अणुव्रतादि श्रावकपना है' — इस वाक्य में निश्चय-व्यवहार का स्पष्टीकरण करो?

उत्तर - बारह अणुव्रतादि श्रावकपना है - ऐसा व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना और देशचारित्ररूपशुद्धि, श्रावकपना है - ऐसा निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना, क्योंकि भगवानअमृतचन्द्राचार्य ने श्री समयसार, कलश 173 में कहा है कि जितना भी पराश्रितव्यवहार है, वह सर्व जिनेन्द्रदेवों ने छुड़ाया है और निश्चय को प्रगट करके, निज महिमा में प्रवर्तन का आदेश दिया है।

प्रश्न 178 - निश्चय-व्यवहार श्रावकपने के विषय में श्री मोक्षपाहुड़, गाथा 31 में क्या बताया है?

उत्तर - जो बारह अणुव्रतादिरूप श्रावकपने की श्रद्धा छोड़कर, देशचारित्र श्रावकपनेरूप अपने स्वभाव में जागता है, वह योगी अपने कार्य में जागता है तथा जो बारह अणुव्रतादि श्रावकपने से लाभ

मानता है, वह अपने कार्य में सोता है; इसलिए बारह अणुव्रतादिरूप श्रावकपने का श्रद्धान छोड़कर, निश्चयनयरूप श्रावकपने का श्रद्धान करनायोग्य है।

प्रश्न 179 – बारह अणुव्रतादि व्यवहारश्रावकपने की श्रद्धा छोड़कर, निश्चयनय देशचारित्ररूप श्रावकपने का श्रद्धान करना क्यों योग्य है?

उत्तर – **व्यवहारनय** = स्वद्रव्य के भावों को (वीतराग देशचारित्र श्रावकपने को), तथा परद्रव्य के भावों को (बारह अणुव्रतादि विकल्परूप श्रावकपने को) किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना तथा **निश्चयनय** = स्वद्रव्य के भावों को (वीतराग देशचारिरूप श्रावकपने को) तथा परद्रव्य के भावोंरूप बारह अणुव्रतादि विकल्परूप श्रावकपने को, किसी को किसी में मिलाकर निरूपण नहीं करता है, यथावत् निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना।

प्रश्न 181 – आप कहते हो कि बारह अणुव्रतादिरूप व्यवहार-श्रावकपने के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है, इसलिए उसका त्याग करो और वीतराग देशचारित्ररूप निश्चयश्रावकपने के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना। परन्तु जिनमार्ग में तो दोनों प्रकार के श्रावकपने का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे?

उत्तर – जिनमार्ग में कहीं तो वीतराग देशचारित्ररूप श्रावकपना है — ऐसा निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' — ऐसा जानना। तथा कहीं बारह अणुव्रतादि विकल्परूप श्रावकपना है — ऐसा व्यवहारनय की मुख्यता लिए

व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं; निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है'— ऐसा जानना। इस प्रकार वीतराग देशचारित्ररूप श्रावकपना है और 12 अणुव्रतादि श्रावकपना नहीं है) – ऐसा जानने का नाम ही निश्चय–व्यवहार श्रावकपने का ग्रहण है।

प्रश्न 181 – कोई विद्वान 'वीतराग देशचारित्र भी श्रावकपना है और बारह अणुव्रतादि विकल्प भी श्रावकपना है' ऐसा कहते हैं — क्या वे झूठे हैं?

उत्तर – झूठे ही हैं, क्योंकि दोनों श्रावकपने के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' — इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो निश्चय–व्यवहार श्रावकपने का ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्न 182 – यदि व्यवहारश्रावकपना असत्यार्थ है तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिए दिया? एकमात्र वीतरागदेश –चारित्ररूप निश्चयश्रावकपने का ही निरूपण करना था?

उत्तर – व्यवहारश्रावकपने के बिना, निश्चयश्रावकपने का उपदेश अशक्य है; इसलिए व्यवहारश्रावकपने का उपदेश है। निश्चय –श्रावकपने को अङ्गीकार कराने के लिए व्यवहारश्रावकपने द्वारा उपदेश देते हैं; व्यवहारश्रावकपना है, उसका विषय भी है, जाननेयोग्य है, परन्तु अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है।

प्रश्न 183 – व्यवहारश्रावकपने के बिना, निश्चयश्रावकपने का उपदेश कैसे नहीं होता?

उत्तर – निश्चय से वीतराग देशचारित्र श्रावकपना है, उसे जो नहीं पहचानते, उनको ऐसे ही कहते रहे तो वे समझ नहीं पायें। तब उनको, तत्त्वश्रद्धान–ज्ञानपूर्वक, परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा, व्यवहारनय से बारह अणुव्रतादि श्रावकपने को, निश्चयश्रावक –पने का विशेष बताया, तब उन्हें निश्चयश्रावकपने की पहचान

हुई। इस प्रकार व्यवहारश्रावकपने के बिना, निश्चयश्रावकपने के उपदेश का न होना जानना।

प्रश्न 184 - बारह अणुव्रतादि विकल्परूप व्यवहार-श्रावकपने को क्यों अङ्गीकार नहीं करना चाहिए?

उत्तर - (1) परद्रव्य का निमित्त मिटने की अपेक्षा से बारह अणुव्रतादि को श्रावकपना कहा, सो इसी को श्रावकपना नहीं मान लेना; (2) क्योंकि बारह अणुव्रतादि को ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का (बारह अणुव्रतादिरूप शरीर की क्रिया का) कर्ता-हर्ता हो जाए; परन्तु कोई द्रव्य, किसी द्रव्य के आधीन है ही नहीं। (3) इसलिए आत्मा, जो अपने बारह अणुव्रतादि शुभभावरूप श्रावकपना है, उन्हें छोड़कर निश्चय देशचारित्ररूप श्रावक होता है; इसलिए निश्चय से वीतराग देशचारित्ररूप ही श्रावकपना है। (4) वीतराग देशचारित्ररूप श्रावकपने के और शुभभावरूप श्रावकपने के कदाचित् कार्य-कारणपना है। (5) इसलिए बारह अणुव्रतादि शुभभावों को श्रावकपना कहें, सो कथनमात्र ही है। (6) परमार्थ से बारह अणुव्रतादि शुभभाव, श्रावकपना नहीं है - ऐसा ही श्रद्धान करना। इस प्रकार व्यवहारनय को अङ्गीकार करना — ऐसा जान लेना।

प्रश्न 185 - जो बारह अणुव्रतादिक विकल्परूप व्यवहार -श्रावकपने को ही सच्चा श्रावकपना मानता है, उसे शास्त्रों में किस-किस नामों से सम्बोधित किया है?

उत्तर - जो व्यवहारश्रावकपने को ही श्रावकपना मानता है, उसे (1) श्री पुरुषार्थसिद्धियुपाय में 'तस्य देशना नास्ति' कहा है। (2) श्री नाटक-समयसार में 'मूर्ख' कहा है। (3) श्री आत्मावलोकन में 'हरामजादीपना' कहा है। (4) श्री समयसार कलश, 55 में 'यह उसका अज्ञान-मोह अन्धकार है और उसका सुलटना दुर्निवार है

कहा है।' (5) श्री प्रवचनसार, गाथा 55 में 'वह पद–पद पर धोखा खाता है, कहा है।' (6) श्री समयसार में 'उसका फल संसार ही है।' – ऐसा कहा है। वह क्रम से चारों गतियों में घूमता हुआ निगोद में चला जाता है।

'उभयाभासी की मान्यता अनुसार, निश्चय से सकलचारित्र –रूप मुनिपने का श्रद्धान रखता हूँ और अट्ठाईस मूलगुणादिरूप व्यवहारमुनिपने की प्रवृत्ति रखता हूँ – इस वाक्य पर निश्चय –व्यवहार मुनिपने का दस प्रश्नोत्तरों द्वारा स्पष्टीकरण'

प्रश्न 186 – सकलचारित्र वीतरागभाव मुनिपना है – ऐसे निश्चयमुनिपने का तो श्रद्धान रखता हूँ और अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति मुनिपना है, ऐसे व्यवहारमुनिपने की प्रवृत्ति रखता हूँ। परन्तु आपने हमारी मान्यता अनुसार निश्चय–व्यवहारमुनिपने को मिथ्या बताया दिया, तो हम किस प्रकार समझे कि हमारा माना हुआ निश्चय–व्यवहारमुनिपना सत्यार्थ कहलावे ?

उत्तर – तीन चौकड़ी कषाय के अभावरूप सकलचारित्ररूप वीतरागभाव मुनिपना है – ऐसे निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति मुनिपना है — ऐसे व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।

प्रश्न 188 – अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति मुनिपना है — ऐसे व्यवहारमुनिपने को त्याग करने का, और सकलचारित्ररूप वीतरागभाव मुनिपना है — ऐसे निश्चयमुनिपने को अङ्गीकार करने का आदेश कहीं भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने दिया है ?

उत्तर – श्री समयसार कलश, 173 में आदेश दिया है कि मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी की ऐसी मान्यता है कि मैं सकलचारित्र

वीतरागभावरूप निश्चयमुनिपने की श्रद्धा रखता हूँ और अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने की प्रवृत्ति रखता हूँ — यह उसका मिथ्या-अध्यवसाय है और ऐसे-ऐसे समस्त अट्ठाईस अध्यवसानों को छोड़ना, क्योंकि मिथ्यादृष्टियों को निश्चय-व्यवहारमुनिपना कुछ होता ही नहीं है — ऐसा अनादि से जिनेन्द्र भगवानों की दिव्यध्वनि में आया है। स्वयं अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूँ कि ज्ञानियों भावलिंङ्गी को जो अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप पराश्रित व्यवहारमुनिपना होता है, सो सर्व ही छुड़ाया है - तो फिर सन्त पुरुष! एक परम त्रिकाली ज्ञायक निश्चय के आश्रय से सकलचारित्र वीतरागभावरूप मुनिपने को अङ्गीकार करके, शुद्ध ज्ञानघनरूप निज महिमा में स्थिति करके केवलज्ञान क्यों प्रगट नहीं करते! ऐसा कहकर आचार्य भगवान ने खेद प्रगट किया है।

प्रश्न 188 - सकलचारित्र वीतरागभावरूप निश्चयमुनिपने को अङ्गीकार करने और अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्तिरूप व्यवहार-मुनिपने के त्याग के विषय में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने क्या कहा है?

उत्तर - श्री मोक्षप्राभृत, गाथा 31 में कहा है कि 'जो अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने की श्रद्धा छोड़कर, सकलचारित्र वीतरागभावरूप निश्चयमुनिपने की श्रद्धा करता है, वह योगी अपने आत्मकार्य में जागता है। तथा जो अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है; इसलिए अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने की श्रद्धा छोड़कर, सकलचारित्र वीतरागभावरूप निश्चयमुनिपने का श्रद्धान करनायोग्य है।'

प्रश्न 189 - अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्तिरूप व्यवहार

–मुनिपने की श्रद्धा छोड़कर, सकलचारित्र वीतरागभावरूप निश्चयमुनिपने का श्रद्धान करना क्यों योग्य है ?

उत्तर – व्यवहारनय = सकलचारित्र वीतरागभावरूप निश्चय मुनिपना – यह स्वद्रव्य के भाव; अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपना — यह परद्रव्य के भाव। इन दोनों को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति ही मुनिपना है — ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना और **निश्चयनय** = सकलचारित्र–वीतरागभाव निश्चय–मुनिपना स्वद्रव्य के भावों तथा अट्ठाईस मूलगुणदि की प्रवृत्तिरूप परद्रव्य के भावों को यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को किसी में नहीं मिलाता है; इसलिए सकलचारित्र वीतराग ही मुनिपना है – ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना चाहिए।

प्रश्न 190 – आप कहते हो कि अट्ठाईस मूलगुणादिरूप व्यवहारमुनिपने के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना और सकलचारित्र वीतरागभावरूप निश्चयमुनिपने के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना – परन्तु जिनमार्ग में निश्चय–व्यवहार दोनों मुनिपनों का ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण है ?

उत्तर – जिनमार्ग में कहीं तो सकलचारित्ररूप वीतरागभाव ही मुनिपना है — ऐसा निश्चय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' — ऐसा जानना तथा कहीं अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति मुनिपना है — ऐसा व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' — ऐसा जानना। इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति मुनिपना

नहीं है; सकलचारित्ररूप वीतरागभाव ही मुनिपना है — ऐसा जानने का नाम ही निश्चय-व्यवहार दोनों मुनिपने का ग्रहण है।

प्रश्न 191 - कुछ मनीषी ऐसा कहते हैं कि अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति भी मुनिपना है और सकलचारित्ररूप वीतरागभाव भी मुनिपना है — इस प्रकार निश्चय-व्यवहार दोनों मुनिपनों का ग्रहण करना चाहिए। क्या उन महानुभावों का ऐसा कहना गलत है?

उत्तर - हाँ, बिल्कुल गलत है, क्योंकि उन महानुभावों को जिनेन्द्रभगवान की आज्ञा का पता नहीं है। निश्चय-व्यवहार दोनों मुनिपनों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'सकलचारित्र वीतरागभाव भी मुनिपना है और अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति भी मुनिपना है' — इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों मुनिपने का ग्रहण करना जिनवाणी में नहीं कहा है।

प्रश्न 192 - अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपना असत्यार्थ है तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिए दिया? सकलचारित्ररूप वीतरागभाव ही मुनिपना है — एकमात्र ऐसे निश्चयमुनिपने का ही निरूपण करना था?

उत्तर - ऐसा ही तर्क समयसार में किया है। वहाँ उत्तर दिया है कि - जिस प्रकार म्लेच्छ की म्लेच्छभाषा बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने के बिना, सकलचारित्र वीतरागभावरूप निश्चय -मुनिपने का उपदेश अशक्य है; इसलिए अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने का उपदेश है। इस प्रकार सकलचारित्र वीतरागभावरूप निश्चयमुनिपने का ज्ञान कराने के लिए, अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने का उपदेश देते हैं। व्यवहार-

मुनिपना है, उसका विषय भी है परन्तु अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप मुनिपना है – ऐसा व्यवहारमुनिपना अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है।

प्रश्न 193 – अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्तिरूप व्यवहार-मुनिपने के बिना, सकलचारित्र वीतरागभावरूप निश्चयमुनिपने का उपदेश कैसे नहीं होता ?

उत्तर – निश्चय से सकलचारित्ररूप वीतरागभाव ही मुनिपना है। उसे जो नहीं पहिचानते, उनको ऐसे ही कहते रहें तो वे समझ नहीं पायें। तब उनको जिन्हें सकलचारित्र वीतरागभाव प्रगट हुआ है — इस तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक, अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने में धर्मविरोधी कार्य मिटने की अपेक्षा द्वारा व्यवहारनय से अट्ठाईस मूलगुणादिरूप प्रवृत्ति को सकलचारित्ररूप वीतरागभाव के विशेष बतलाये, तब उन्हें सकलचारित्ररूप वीतराग निश्चयमुनिपने की पहचान हुई। इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहार-मुनिपने के बिना, सकलचारित्र वीतरागभावरूप निश्चयमुनिपने के उपदेश न होना जानना।

प्रश्न 194 – अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने को कैसे अङ्गीकार नहीं करना चाहिए ?

उत्तर – (1) अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने में धर्मविरोधी कार्य मिटने की अपेक्षा द्वारा, उस प्रवृत्ति को मुनिपना कहा, सो इन्हीं को मुनिपना नहीं मान लेना, (2) क्योंकि अट्ठाईस मूलगुणादिरूप शरीर की क्रिया का ग्रहण-त्याग यदि आत्मा के हो तो आत्मा, परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जावे, परन्तु कोई द्रव्य, किसी द्रव्य के आधीन नहीं है; (3) इसलिए आत्मा, अपने भाव जो अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्तिरूप रागादि हैं, उन्हें छोड़कर सकलचारित्र वीतरागभावरूप होता है; इसलिए निश्चय से सकलचारित्ररूप

वीतरागभाव ही मुनिपना है। (4) सकलचारित्ररूप वीतरागभावों और अट्ठाईस मूलगुणादिरूप प्रवृत्ति में साधक जीव के सविकल्पदशा में कार्यकारणपना है; इसलिए अट्ठाईस मूलगुणादिरूप प्रवृत्ति को मुनिपना कहा, सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से अट्ठाईस मूलगुणादिरूप बाह्यक्रिया, मुनिपना नहीं है — ऐसा ही श्रद्धान करना; इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणादिरूप प्रवृत्ति (व्यवहारमुनिपना) अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है — ऐसा जानना।

प्रश्न 195 – अट्ठाईस मूलगुणादिरूप प्रवृत्ति मुनिपना है – ऐसे कथन को ही जो सच्चा मानता है, उसे जिनवाणी में किस-किस नाम से सम्बोधित किया है ?

उत्तर – (1) अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप मुनिपना है – ऐसे कथन को ही जो सच्चा मान लेता है, उसे (1) श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 6 में कहा है कि 'तस्य देशना नास्ति'। (2) श्री समयसार, कलश 55 में कहा है कि 'यह उसका अज्ञान-मोह अन्धकार है, उसका सुलटना दुर्निवार है।' (3) श्री प्रवचनसार, गाथा 55 में कहा है कि 'वह पद-पद पर धोखा खाता है।' (4) श्री आत्मावलोकन में कहा है कि 'यह उसका हरामजादीपना है।'

व्यवहारनय, कार्यकारी कब और कब नहीं ?

प्रश्न 196 – व्यवहारनय, अकार्यकारी कब और कैसे है ?

उत्तर – (1) मनुष्यजीव –ऐसा कहने पर जीव को तो न समझे और मनुष्यशरीर को ही जीव मान ले, तो मिथ्याश्रद्धा दृढ़ हो जाती है।

(2) गुण-गुणी के भेद से अभेद को समझाया तो भेद में ही रुक जावे; अभेद का लक्ष्य न करे, तो मिथ्याश्रद्धा दृढ़ हो जाती है। इस प्रकार जाने-माने तो व्यवहारनय अनर्थकारी हो जावेगा।

(3) व्रतादि को उपचार से मोक्षमार्ग कहा, वहाँ राग को ही मोक्षमार्ग मान ले और वीतरागभाव को नहीं पहिचाने तो मिथ्याश्रद्धा दृढ़ हो जाती है।

प्रश्न 197 – व्यवहारनय, कार्यकारी कब और कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर – (1) मनुष्यजीव कहते ही देह से भिन्न, मैं ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा हूँ – ऐसा लक्ष्य करे, (2)आत्मा ज्ञानवाला, दर्शनवाला –ऐसा सुनकर, भेद का लक्ष्य छोड़कर, अभेद आत्मा पर दृष्टि दे। (3) देव–गुरु–शास्त्र का श्रद्धान, सम्यग्दर्शन है — यह सुनकर 'यह सम्यग्दर्शन नहीं है; श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय ही सम्यग्दर्शन है' – इस प्रकार जाने–माने तो व्यवहारनय कार्यकारी कहा जा सकता है।

प्रश्न 198 – निचलीदशा में अपने को भी व्यवहारनय कार्यकारी कब कहा जा सकता है?

उत्तर – व्यवहार का आश्रय बन्धरूप होने से हेय है – ऐसा जानकर, अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेकर, धर्म की प्राप्ति–वृद्धि करे तो व्यवहारनय कार्यकारी है — ऐसा बोलने में आता है।

प्रश्न 199 – मुनिराज, कैसे अज्ञानी को व्यवहारनय का, जोकि असत्यार्थ है, उपदेश देते हैं?

उत्तर – (1) अज्ञानी कहते ही —ज्ञानी नहीं है, झगड़ा करनेवाला नहीं है, (2) परन्तु जैसा मुनिराज कहते हैं, वैसा ही चौबीस घण्टे विचार–मंथन करता है, (3) वास्तव में निश्चयमोक्षमार्ग सच्चा है और व्यवहार, अर्थात् शुभभाव, मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु उपचार का कथन है — ऐसा बराबर जानकर, केवल किसी एक की ही सत्ता मानकर स्वच्छन्द नहीं होता है, किन्तु उसके स्वरूप अनुसार यथायोग्य

दोनों की सत्ता को मानता है, ऐसे अज्ञानी को समझाने के लिए मुनिराज व्यवहारनय का, जो कि असत्यार्थ है, उपदेश देते हैं।

प्रश्न 200 – मुनिराज, कैसे अज्ञानी को व्यवहारनय का, जोकि असत्यार्थ है, उपदेश देते हैं – जरा स्पष्टता से समझाइये ?

उत्तर – (1) कार्य तो निश्चयकारण उपादान से ही मानता है और व्यवहारकारण निमित्त को भी मानता है। (2) त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से ही धर्म की प्राप्ति–वृद्धि और पूर्णता होती है; पर के–विकार के आश्रय से नहीं होती है। (3) जीव–पुद्गल का ठहरना, चलना, अवगाहन और परिणमनरूप कार्य तो स्वतन्त्र उपादान, योग्यता से मानता है और अधर्म–धर्म–आकाश और काल को उपचारकारण मानता है। (4) ज्ञान जानता तो स्वकाल की योग्यता से है और ज्ञेय तो उपचारमात्र निमित्तकारण है। (5) अज्ञानदशा में राग का कर्ता तो अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा को मानता है और द्रव्यकर्म को उपचार निमित्तकारण मानता है; इस प्रकार जो मानता है – ऐसे अज्ञानी को ज्ञानी बनाने के लिए मुनिराज, व्यवहार का उपदेश देते हैं।

प्रश्न 201 – मुनिराज कैसे अज्ञानी को उपदेश देने के योग्य नहीं समझते ?

उत्तर – जो निश्चय को तो बिल्कुल जानता ही नहीं है और ज्ञानियों की बात सुनते ही झगड़ा करने को तैयार रहता है; जो सर्वथा एकान्त कथन को ही सच्चा मानता है; ऐसे सर्वथा निश्चयपक्षवालों को और सर्वथा व्यवहारपक्षवालों को मुनिराज उपदेश देने के योग्य नहीं समझते हैं।

प्रश्न 202 – मुनिराज कैसे अज्ञानी को उपदेश देने के योग्य नहीं समझते – जरा स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर – (1) श्री समयसार, में भूतार्थवस्तु को पकड़ाने के लिए चार प्रकार का भेदरूप अभूतार्थवस्तु का निरूपण किया है, परन्तु जो अभूतार्थवस्तु को ही भूतार्थ मान लेता है; मोक्षशास्त्र में 'गतिस्थित्युय-ग्रहौधर्माधर्मयोरूपकारः' आया है — वहाँ मात्र इतना ही बताना है कि जब जीव-पुद्गल स्वयं अपनी योग्यता से चलते हैं तो धर्मद्रव्य, निमित्त होता है और जब स्वयं अपनी योग्यता से ठहरते हैं तो अधर्मद्रव्य निमित्त होता है परन्तु जो इस व्यवहारकारण को ही निश्चयकारण मानकर, धर्मद्रव्य, जीव-पुद्गल को चलाता है और अधर्मद्रव्य, जीव-पुद्गल को ठहराता है - ऐसा मानता है। (3) मोक्षशास्त्र में 'सुख-दुःख जीवितमरणोपग्रहाश्च' तथा 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र आये हैं, यह सब निमित्तमात्र का कथन है किन्तु जो इन निमित्त के कथनों को ही सच्चा मान लेता है; श्री प्रवचनसार में आया है कि ज्ञेय अपना स्वरूप, ज्ञान को सौंप देते हैं; ज्ञान उन्हें पकड़ लेता है, यह सब उपचार के कथन हैं परन्तु इसे ही सच्चा मान लेता है; जीव ने कर्मों को बाँधा - आदि करणानुयोग का कथन, निमित्त की अपेक्षा किया है परन्तु जो उस कथन को ही सच्चा मान लेता है — वह शिष्य, उपदेश के योग्य नहीं है; इसलिए मुनिराज ऐसे शिष्य को उपदेश के योग्य नहीं समझते हैं।

प्रश्न 203 - किस-किस मान्यतावाले जीव, जिनवाणी और गुरु की देशना के लायक नहीं हैं — सीधे-सीधे शब्दों में बताओ ?

उत्तर – (1) परमार्थ का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार का कथन है, उसके बदले व्यवहार के अवलम्बन से ही लाभ मान ले; (2) वचनगुप्ति रखना चाहिए - ऐसा गुरु ने कहा, उसके बदले कहे, तुम क्यों बोलते हो? (3) प्रथम व्यवहार हो तो लाभ हो;

(4) व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट हो जाएगा; (5) भेद को अभेद मान ले, (6) देव-गुरु-शास्त्र के श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन मान ले; (7) बारह अणुव्रतादि को ही श्रावकपना मान ले; (8) अट्ठाईस मूलगुणादि को ही मुनिपना मान ले; (9) निमित्त से ही उपादान में कार्य होना मान ले; (10) मात्र त्रिकाली स्वभाव को माने, पर्याय को न माने; (11) मात्र पर्याय को माने, त्रिकाली स्वभाव को न माने; (12) शरीर की क्रिया मैं करता हूँ, यह हमारा कार्य है - ऐसा माने; (13) आस्रव-बन्ध को संवर-निर्जरा मान ले; (14) जीव को अजीव मान ले; (15) अजीव को जीव मान ले - वे जीव जिनवाणी और गुरु की देशना के लायक नहीं हैं।

प्रश्न 204 - व्यवहार के कथन को ही सच्चा माननेवालों को जिनवाणी में किन-किन नामों से सम्बोधित किया है ?

उत्तर - (1) श्री पुरुषार्थसिद्धियुपाय में कहा है कि 'तस्य देशना नास्ति।' (2) श्री समयसारनाटक में कहा है 'मूर्ख'। (3) श्री आत्मावलोकन में 'यह उसका हरामजादीपना है।' (4) श्री समयसार, कलश 55 में 'यह उनका अज्ञानमोह अन्धकार है, उनका सुलटना दुर्निवार है।' (5) श्री प्रवचनसार में 'पद-पद पर धोखा खाता है'। (6) श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में 'उसके सब धर्म के अङ्ग मिथ्यात्वभाव को प्राप्त होते हैं' (7) श्री समयसार, गाथा 11 के भावार्थ में 'उसका फल, संसार है'। (8) श्री मोक्षमार्गप्रकाशक नौवें अधिकार में 'यह अनीति है' इत्यादि कहा है।

तात्पर्य यह है कि चारों अनुयोगों में व्यवहार के कथन को सच्चा कथन माननेवालों को चारों गतियों में घूमकर निगोद में जानेवाला बतलाया है क्योंकि व्यवहार, निश्चय का प्रतिपादक है, उसके बदले उसे सच्चा मान लेता है, वह सम्यक्त्व से रहित पुरुषों का व्यवहार है।

प्रश्न 205 - (1) कोई निर्विचारी पुरुष कहे कि - तुम व्यवहार को असत्यार्थ-हेय कहते हो तो हम व्रत, शील, संयमादि व्यवहार किसलिए करें ? हम व्रत, शील, संयमादि को छोड़ देंगे - इस प्रश्न का पण्डितजी ने क्या समाधान दिया है ?

उत्तर - (1) व्रत, शील संयमादि का नाम व्यवहार नहीं है। यह तो शुभभावरूप प्रवृत्ति है और प्रवृत्ति में व्यवहार का प्रयोजन ही नहीं है परन्तु जिनको अपने स्वभाव के आश्रय से एकदेश शुद्धदशा प्रगट हुई है, उसके व्रत शील, संयमादि में मोक्षमार्ग का उपचार कहना, यह व्यवहार है; अतः व्रत, शील, संयमादि, मोक्षमार्ग है-यह मान्यता छोड़ दे। व्रत, शील, संयमादि मोक्षमार्ग नहीं है - ऐसा श्रद्धान कर। इनको तो बाह्य सहकारी जानकर, उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, यह तो परद्रव्याश्रित हैं; तथा सच्चा मोक्षमार्ग, वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है। इस प्रकार व्यवहार को असत्यार्थ-हेय जानना। (2) व्रतादिक छोड़ने से तो व्यवहार का हेयपना नहीं होता है।

पण्डितजी पूछते हैं — व्रतादि छोड़कर क्या करेगा ? यदि हिंसादिरूप प्रवर्तेगा तो वहाँ मोक्षमार्ग का उपचार भी सम्भव नहीं है; अशुभ में प्रवर्तने से क्या भला होगा ? नरकादि प्राप्त करेगा। इसलिए शुभभावों को छोड़कर, अशुभ में प्रवर्तन करना, निर्विचारीपना है। व्रतादिरूप परिणति को मिटाकर, केवल वीतराग उदासीनभावरूप होना बने तो अच्छा ही है; वह निचलीदशा में हो नहीं सकता; इसलिए व्रतादि साधन छोड़कर, स्वच्छन्द होना योग्य नहीं है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 253]

प्रश्न 206 - व्यवहार को असत्यार्थ-हेय जानना — यह बात शास्त्रों में अन्यत्र भी कही है ?

उत्तर - (1) श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 226 में कहा है कि

अहिंसादिवत् सत्यादि तो पुण्यबन्ध के कारण हैं और हिंसावत् असत्यादिक पापबन्ध के कारण हैं। ये सर्व मिथ्याअध्यवसाय हैं, और त्याज्य हैं; इसलिए हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बन्ध का कारण जानकर हेय ही मानना। (2) श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 250 में कहा है – क्योंकि सर्व ही हिंसादि व अहिंसादि में अध्यवसाय है, सो समस्त ही छोड़ना — ऐसा जिनदेवों ने कहा है।

प्रश्न 207 – व्रतादिकरूप परिणति को मिटाकर, केवल वीतराग उदासीनभावरूप होना बने तो अच्छा ही है, वह निचलीदशा में हो नहीं सकता। इसका अर्थ स्पष्ट करो ?

उत्तर – मात्र वीतरागता तो बारहवें गुणस्थान में है। व्रतादिरूप परिणति को मिटाकर बारहवें गुणस्थान में होना बने तो अच्छा है। वह निचलीदशा में (अर्थात्, चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान तथा अबुद्धिपूर्वक राग दसवें तक की दशा में) हो नहीं सकता।

प्रश्न 208 – उदासीनभाव का क्या अर्थ है ?

उत्तर – वीतरागभावरूप शुद्धदशा का नाम उदासीनभाव है।

'उदासीन होकर निश्चलवृत्ति को धारण करते हैं।'

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 3]

सच्ची उदासीनता के अर्थ, यथार्थ अनित्यत्वादिक का चिन्तन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है; सकल कषायरहित जो उदासीनभाव है, उसी का नाम चारित्र है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 229]*

सच्ची उदासीनता तो उसका नाम है कि किसी द्रव्य का दोष या गुण भासित न हो..... स्व को स्व जाने, पर को पर जाने; पर में कुछ भी मेरा प्रयोजन नहीं है – ऐसा मानकर, साक्षीभूत रहे, सो ऐसी उदासीनता ज्ञानी के ही होती है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 244]*

उदासीनता का अर्थ, ज्ञाता-दृष्टामात्र; ज्ञानभवनमात्र; सहज उदासीन कहा है। *[श्री समयसार, कर्ता-कर्म अधिकार]*

प्रश्न 209 - शास्त्रों में जहाँ शुभभाव का निषेध किया हो और जहाँ शुभभाव को अच्छा कहा हो, वहाँ क्या जानना चाहिए ?

उत्तर - जहाँ शास्त्र में शुभभाव का निषेध किया हो, वहाँ शुद्ध में जाने के लिए जानना चाहिए। जहाँ शुभभाव को अच्छा कहा हो, वह अशुभ की अपेक्षा जानना तथा शुभ-अशुभभाव दोनों ही बन्ध के कारण और दुःखरूप है - ऐसा जानना चाहिए।

आत्मानुभवनादि में लगाने को व्रत-शील-संयमादि का हीनपना प्रगट करते हैं। वहाँ ऐसा नहीं जान लेना कि इनको छोड़कर पाप में लगना, क्योंकि उस उपदेश का प्रयोजन अशुभ में लगाने का नहीं है। शुद्धपयोग में लगाने को शुभोपयोग का निषेध करते हैं।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 284]

'पुण्य-पाप का श्रद्धान होने पर, पुण्य को मोक्षमार्ग न माने या स्वच्छन्दी होकर पापरूप न प्रवर्ते।' *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 319]*

किसी शुभक्रिया की जहाँ निन्दा की हो, वहाँ तो उससे ऊँची शुभक्रिया या शुद्धभाव की अपेक्षा जानना और जहाँ प्रशंसा की हो, वहाँ उससे नीची क्रिया व अशुभक्रिया की अपेक्षा जानना।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 296]

व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति से पुण्यबन्ध होता है; इसलिए पापप्रवृत्ति की अपेक्षा तो इसका निषेध है नहीं; - परन्तु जो जीव, व्यवहारप्रवृत्ति से ही सन्तुष्ट होकर, सच्चे मोक्षमार्ग के उद्यमी नहीं होते हैं, उन्हें मोक्षमार्ग में सन्मुख करने के लिए उस शुभरूप मिथ्याप्रवृत्ति का भी निषेध करते हैं। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 213]*

जैसे, रोग तो थोड़ा या बहुत, बुरा ही है परन्तु बहुत रोग की अपेक्षा थोड़े रोग को भला ही कहते हैं। इसलिए शुद्धोपयोग न हो, तब अशुभ से छूटकर, शुभ में प्रवर्तन योग्य है, शुभ को छोड़कर, अशुभ से प्रवर्तन योग्य नहीं है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 205]*

उभयाभासी की निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी भूल

प्रश्न 210 – उभयाभासी निश्चय-व्यवहार किसे मानता है ?

उत्तर – वर्तमान पर्याय में ही आत्मा, निश्चय से सिद्धसमान शुद्ध, केवलज्ञानादि सहित, द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म से रहित है और वर्तमान पर्याय में ही व्यवहारनय से संसारी, मतिज्ञानादि सहित तथा द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म सहित है — ऐसा मानता है।

प्रश्न 211 – क्या उभयाभासी का ऐसा निश्चय-व्यवहार मानना ठीक है ?

उत्तर – ठीक नहीं है; क्योंकि एक आत्मा के एक ही समय में ऐसे दो स्वरूप वर्तमान पर्याय में हो ही नहीं सकते हैं। पर्याय में ही सिद्धपना और पर्याय में ही संसारीपना; पर्याय में ही केवलज्ञानादि और पर्याय में ही मतिज्ञानादि, एक आत्मा के एक साथ नहीं हो सकते हैं। जिस भाव का सहितपना, उस भाव ही का रहितपना एक वस्तु में कैसे सम्भव हो ? — इसलिए उभयाभासी का ऐसा मानना भ्रम है।

प्रश्न 212 – सच्चा निश्चय-व्यवहार किस प्रकार है ?

उत्तर – (1) सिद्ध और संसारी, जीवत्वपने की अपेक्षा समान हैं; पर्याय अपेक्षा सिद्ध को पर्याय में सिद्धपना प्रगट है और संसारी को पर्याय अपेक्षा, संसार है। (2) संसारी की पर्याय में निश्चय से मतिज्ञानादि हैं और सिद्ध की पर्याय में निश्चय से केवलज्ञानादि हैं,

परन्तु संसारी में केवलज्ञानादि की स्वभाव अपेक्षा शक्ति है। (3) द्रव्यकर्म–नोकर्म, पुद्गल से उत्पन्न हुए हैं; इसलिए निश्चय से संसारी के भी इनका भिन्नपना है, परन्तु सिद्ध की भाँति इनका कार्य –कारण अपेक्षा सम्बन्ध भी न माने तो भ्रम ही है। (4) रागादि भावकर्म दोष अपना है, पर ने नहीं कराया है; इसलिए भावकर्म, निश्चय से आत्मा का कहा है। सिद्ध की भाँति संसारी के भी रागादिक न मानना या उन्हें कर्म ही का मानना, वह भी भ्रम है।

प्रश्न 213 – संसारी के द्रव्यकर्म–नोकर्म का कारण–कार्य अपेक्षा सम्बन्ध किस प्रकार है, सो समझाइये?

उत्तर – संसारी ने इच्छा की, हाथ उठा; इसमें हाथ उठा, नैमित्तिक और जीव की इच्छा, निमित्त है। जीव ने विकार किया तो कर्म बँधा, इमसें कर्म बँधा, नैमित्तिक और जीव ने विकार किया, निमित्त। बाई ने रोटी बनाई; इसमें रोटी बनी, नैमित्तिक और बाई का राग, निमित्त है; इस प्रकार संसारी के द्रव्यकर्म–नोकर्म का कार्य–कारणसम्बन्ध है – परन्तु सिद्ध के साथ ऐसा कार्य–कारणसम्बन्ध भी नहीं है — ऐसा जानना।

प्रश्न 214 – संसारी के निश्चय से मतिज्ञानादिक ही हैं — इसमें मतिज्ञानादिक के लिए 'निश्चय' क्यों लगाया है?

उत्तर – 'उभयाभासी ने कहा था कि 'पर्याय में निश्चय से सिद्ध–समान और पर्याय में व्यवहार से मतिज्ञानादिक सहित हूँ' उसकी बात मिथ्या है – यह बताने के लिए मतिज्ञानादिक के लिए 'निश्चय' लगाया है।

प्रश्न 215 – 'आत्मा तो जैसा है, वैसा ही है' — इसका क्या अर्थ है?

उत्तर – निश्चय से आत्मा त्रिकाली शुद्ध है, आत्मा में सिद्ध और

केवलज्ञानादिक की शक्ति है। पर्याय में साधक ज्ञानियों को शुद्धि और अशुद्धि दोनों है। सिद्ध को पर्याय में सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट हुई है। ज्ञानी, श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की अपेक्षा जैसा-जैसा है, वैसा-वैसा मानता है, जानता है; इसलिए 'आत्मा तो जैसा है, वैसा ही है' — कहा है।

प्रश्न 216 - कथन में झगड़ा क्यों पड़ता है?

उत्तर - (1) जहाँ श्रद्धा की अपेक्षा कथन हो, उसे ज्ञान या चारित्र की अपेक्षा समझने व मानने से झगड़ा पड़ता है। (2) जहाँ ज्ञान की अपेक्षा कथन हो, उसे श्रद्धा या चारित्र की अपेक्षा समझने व मानने से झगड़ा पड़ता है। (3) जहाँ चारित्र की अपेक्षा कथन हो, उसे श्रद्धा या ज्ञान की अपेक्षा समझने या मानने से झगड़ा पड़ता है। (4) जहाँ निमित्त की अपेक्षा कथन हो, उसे उपादान की अपेक्षा मानने से झगड़ा पड़ता है। (5) जहाँ उपादान की अपेक्षा कथन हो, उसे निमित्त की अपेक्षा मानने से झगड़ा पड़ता है। (6) जहाँ व्यवहार की अपेक्षा कथन हो, उसे निश्चय की अपेक्षा मानने से झगड़ा पड़ता है। (7) जहाँ निश्चय की अपेक्षा कथन हो, उसे व्यवहार की अपेक्षा समझने से झगड़ा पड़ता है। (8) हेय को उपादेय और उपादेय को हेय मानने से झगड़ा पड़ता है; इसलिए पात्र जीवों को प्रथम सब अपेक्षाएँ समझ लेनी चाहिए, क्योंकि यदि अपेक्षा नहीं समझे तो कहीं अन्य प्रयोजनसहित व्याख्यान हो, उसका अन्य प्रयोजन प्रगट करने से विपरीत प्रवृत्ति होती है। अतः सम्यग्ज्ञान द्वारा सर्व प्रकार के व्यवहार-निश्चयादिरूप व्याख्यान का अभिप्राय जानने पर झगड़ा नहीं पड़ता है।

प्रश्न 217 - इस प्रकार नयों द्वारा एक ही वस्तु को एक भाव अपेक्षा 'ऐसा भी मानना और ऐसा भी मानना' — वह तो मिथ्याबुद्धि ही है' - वाक्यांश क्या भाव है?

उत्तर – उभयाभासी, एक ही जीव को वर्तमान पर्याय में सिद्धपना और संसारीपना; केवलज्ञानादि और मतिज्ञानादि मानता है, यह तो मिथ्याबुद्धि ही है।

प्रश्न 218 – 'भिन्न-भिन्न भावों को अपेक्षा नयों की प्ररूपणा है — ऐसा मानकर यथासम्भव वस्तु को मानना, वो सच्चा श्रद्धान है' – इस वाक्यांश का क्या भाव है?

उत्तर – निश्चयनय से त्रिकाली स्वभाव एकरूप है; पर्याय में अपने अपराध से दोष है; उस दोष में द्रव्यकर्म, निमित्त है – ऐसा जानकर, पर्याय को गौण करके, त्रिकाली स्वभाव का आश्रय लेकर, धर्म की शुरुआत करके, क्रम से वृद्धि करके, केवलज्ञानादि-सिद्धदशा की प्राप्ति होती है — यह सच्चा श्रद्धान है।

प्रश्न 219 – मिथ्यादृष्टि, अनेकान्त किसे कहता है?

उत्तर – पर्याय में निश्चय से केवलज्ञानादि हैं और व्यवहार से मतिज्ञानादि हैं — यह मिथ्यादृष्टि का अनेकान्त है।

प्रश्न 220 – उभयाभासी, व्रत-शील-संयमादि के विषय में क्या मानता है?

उत्तर – उसके व्रत-शील-संयमादि का अङ्गीकार पाया जाता है, सो व्यवहार से 'यह भी मोक्ष के कारण हैं' — ऐसा जानकर उन्हें उपादेय मानता है। शरीर से ब्रह्मचर्य पाले, निर्दोष आहार ले, शरीर से जरा भी हिंसा न हो, बाहरी महाव्रतादि को, णमोकरमन्त्र के जाप को मुँह से पाठ आदि बोलनेरूप जड़ की क्रिया और व्रत शील संयमादि शुभभावों को मोक्ष का साधन मानता है। शरीरादिक की क्रिया करो, शुभभाव करो, परन्तु उसमें ममत्व नहीं करना — ऐसी मान्यता उभयाभासी में होती है।

प्रश्न 221 – उभयाभासी कहता है कि 'यथायोग्य व्रतादि

क्रिया तो करने योग्य है, परन्तु उसमें ममत्व नहीं करना।' इस विषय में पण्डितजी ने क्या उत्तर दिया है?

उत्तर - जिसका आप कर्ता हो, उसमें ममत्व कैसे नहीं किया जाये? आप कर्ता नहीं है तो 'मुझको करने योग्य है' — ऐसा भाव कैसे किया? और यदि कर्ता है तो वह अपना कर्म हुआ, तब कर्ता -कर्म सम्बन्ध स्वयंमेव ही हुआ — सो ऐसी मान्यता तो भ्रम है। (4) अभिप्राय से कर्ता होकर करे और ज्ञाता रहे — यह तो बनता नहीं है।

प्रश्न 222 - शरीरादिक जड़क्रियाओं के विषय में जिन -जिनवर और जिनवरवृषभों का क्या आदेश है?

उत्तर - रोटी छोड़ने-खाने की क्रिया, शरीर के उठने-बैठने की क्रिया, पद्मासन-खड्गासन की क्रिया, अनशनादि की क्रिया, स्तुति -मन्त्र, पाठ-पूजा, बोलने आदि की क्रिया और आठ कर्मों की एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ हैं, वे तो शरीरादि परद्रव्य के आश्रित हैं; परद्रव्य का आप कर्ता है नहीं; इसलिए उसमें (शरीरादिक की क्रिया में) कर्तृत्वबुद्धि भी नहीं करना और उसमें ममत्व भी नहीं करना — यह जिन-जिनवर और जिनवरवृषभों का आदेश हैं।

प्रश्न 223 - व्रतादि के ग्रहण-त्याग के सम्बन्ध में जिन -जिनवरवृषभों का क्या आदेश है?

उत्तर - (1) अव्रत के त्याग और व्रत के ग्रहणरूप अपना शुभोपयोग हो, वह अपने आश्रित है; इसलिए उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी मानना और ममत्व भी करना। दोष का ज्ञान कराने की अपेक्षा कर्तृत्वबुद्धि कहा है, कर्तव्य नहीं कहा है। (2) परन्तु इस शुभोपयोग को बन्ध का ही करण जानना; मोक्ष काकारण नहीं जानना क्योंकि बन्ध और मोक्ष के तो प्रतिपक्षीपना है; इसलिए दोषरूप एक ही

भाव, पुण्यबन्ध का भी कारण हो और मोक्ष का भी कारण हो – ऐसा मानना भ्रम है। (3) इसलिए व्रत–अव्रत दोनों विकल्परहित जहाँ परद्रव्य के ग्रहण–त्याग का कुछ भी प्रयोजन नहीं है – ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग, वही मोक्षमार्ग है – ऐसा जिन–जिनवर और जिनवर–वृषभों का आदेश है। [ऐसा ही श्री समयसार, कलश 226 में आया है; श्री समाधितन्त्र, गाथा 47; त्याग–उपादान की 16वीं शक्ति; श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 158 देखो।]

प्रश्न 324 – व्रत–शील–संयमादिक शुभभावों को और शरीर की क्रियाओं को मोक्षमार्ग और मोक्ष का कारण कौन मानते हैं और उस का फल क्या है?

उत्तर – अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मानते हैं और उसका फल चारों गतियों में घूमकर निगोद है।

प्रश्न 325 – व्रत–शील–संयमादि शुभभाव संसार का कारण हैं; मोक्षमार्ग और मोक्ष का कारण नहीं हैं – क्या ऐसा कहीं श्री मोक्षमार्ग –प्रकाशक में आया है?

उत्तर – (1) व्रतादिरूप शुभपयोग ही से देवगति का बन्ध मानते हैं, और उसी को मोक्षमार्ग मानते हैं, सो बन्धमार्ग–मोक्षमार्ग को एक किया, परन्तु यह मिथ्या है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 158]*

स्वर्गसुख का कारण, प्रशस्तराग है और मोक्षसुख का कारण, वीतरागभाव है, परन्तु ऐसा भाव इसे (मिथ्यादृष्टि को) भासित नहीं होता; इसलिए मोक्ष का भी इसको सच्चा श्रद्धान नहीं है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 234]

मिथ्यादृष्टि, सरागभाव में संवर के भ्रम से प्रशस्तरागरूप कार्यों को उपादेयरूप श्रद्धा करता है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 228]*

शुभ–अशुभभावों में घातिकर्मों का तो निरन्तर बन्ध होता है, वे

सर्व पापरूप ही है और वही आत्मगुण के घातक हैं; इसलिए अशुद्धभावों से कर्मबन्ध होता है, उसमें भला-बुरा जानना, वही, मिथ्याश्रद्धान है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 227]*

शुभयोग हो या अशुभयोग हो; सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना, घातिकर्मों की तो सर्व प्रकृतियों का निरन्तर बन्ध होता ही रहता है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 227]*

द्रव्यलिङ्गी के योगों की प्रवृत्ति शुभरूप बहुत होती है और अघातिकर्मों में पुण्य-पापबन्ध का विशेष शुभ-अशुभयोगों के अनुसार है; इसलिए वह अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त पहुँचता है परन्तु वह कुछ कार्यकारी नहीं है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 247]*

द्रव्यलिङ्गी के शुभोपयोग तो (प्रथम गुणस्थान के योग्य) उत्कृष्ट होता है, शुद्धोपयोग होता ही नहीं; इसलिए परामर्थ से इनके कारण -कार्यपना नहीं है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 256]*

कितने ही जीव, अणुव्रत-महातव्रतादिरूप यथार्थ आचरण करते हैं और आचरण के अनुसार ही परिणाम है, कोई माया लोभादिक का अभिप्राय नहीं है, उन्हें धर्म जानकर, मोक्ष के अर्थ का साधन करते हैं; किन्हीं स्वर्गादिक के भोगों की भी इच्छा नहीं रखते परन्तु तत्त्वज्ञान पहले नहीं हुआ है; इसलिए आप तो जानते हैं कि मैं मोक्ष का साधन कर रहा हूँ, परन्तु जो मोक्ष का साधन है, उसे जानते भी नहीं; केवल स्वर्गादिक का साधन करते हैं। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 241]*

बाह्य में तो अणुव्रत-महाव्रतादि साधते हैं, परन्तु अन्तरङ्ग परिणाम नहीं हैं और स्वर्गादिक की वाँछा से साधते हैं — सो इस प्रकार साधने से पापबन्ध होता है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 242]*

इन्द्रियजनित सुख की इच्छा के प्रयोजन हेतु अरहन्तादिक की भक्ति करने से भी तीव्रकषाय होने के कारण, पापबन्ध ही होता

है; इसलिए पात्र जीवों को इस प्रयोजन का अर्थी होना योग्य नहीं है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 8]

इस प्रकार ही चारों अनुयोगों ने बताया है कि शुभभाव किसी का भी हो, वह बन्ध का ही कारण है; मोक्ष का कारण या मोक्षमार्ग नहीं है — ऐसा निश्चय करना।

प्रश्न 226 – जब शुभभाव किसी के भी हों, वह मोक्षमार्ग और मोक्ष का कारण नहीं हैं, तो कहीं-कहीं शास्त्रों में उन्हें मोक्षमार्ग और मोक्ष का कारण क्यों कहा है?

उत्तर – वास्तव में किसी भी शास्त्र में शुभभावों को मोक्षमार्ग और मोक्ष का कारण नहीं कहा है और जहाँ कहीं कहा है, वह उपचारमात्र व्यवहारकारण कहा है — ऐसा जानना।

निचली दशा में कितने ही जीवों के शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का युक्तपना पाया जाता है; इसलिए उपचार से व्रतादिक शुद्धोपयोग को मोक्षमार्ग कहा है; वस्तु का विचार करने पर शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है क्योंकि बन्ध का कारण, वह ही मोक्ष का घातक है — ऐसा श्रद्धान करना। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 255]*

वीतरागभावों के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य-कारणपना है; इसलिए व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहें, सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है — ऐसा ही श्रद्धान करना।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 253]

व्रत-तपादि, मोक्षमार्ग हैं नहीं; निमित्तादि की अपेक्षा उपचार से इनको मोक्षमार्ग कहते हैं; इसलिए इन्हें व्यवहार कहा।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 250]

प्रश्न 227 – शुद्ध-अशुद्धभावों में हेय-उपादेय के विषय में जिनाज्ञा क्या है?

उत्तर – (1) शुद्धोपयोग ही को प्रगट करने योग्य उपादेय मानकर उसका उपाय करना, (2) शुभोपयोग–अशुभपयोग को हेय जानकर, उनके त्याग का उपाय करना, (3) जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके, वहाँ अशुभोपयोग को छोड़कर, शुभ में ही प्रवर्तन करना क्योंकि शुभोपयोग की अपेक्षा अशुभोपयोग में अशुद्धता की अधिकता है, (4) शुद्धोपयोग हो तब तो परद्रव्य का साक्षीभूत ही रहता है, वहाँ कुछ परद्रव्य का प्रयोजन हीं नहीं। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 255]*

प्रश्न 228 – अशुद्धोपयोग में निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध किस प्रकार है और उसका ज्ञान किसे होता है ?

उत्तर – शुभोपयोग, नैमित्तिक और बाह्य व्रतादि की प्रवृत्ति निमित्त है। अशुभोपयोग, नैमित्तिक और बाह्य अव्रतादिक की प्रवृत्ति निमित्त है। इसका ज्ञान, मात्र ज्ञानियों को ही होता है।

प्रश्न 229 – 'पहले अशुभोपयोग छूटकर, शुभोपयोग हो फिर शुभोपयोग छूटकर, शुद्धोपयोग हो — ऐसी क्रमपरिपाटी है' यह बात किसे लागू पड़ती है ?

उत्तर – यह कथन चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान की अपेक्षा है। ज्ञानी जीव, सीधा अशुभ में से शुद्ध में नहीं आता है; पहले अशुभ को छोड़कर, शुभोपयोग होता है और शुभोपयोग छूटकर, शुद्धोपयोग होता है; इसलिए ऐसी क्रमपरिपाटी ज्ञानी ही को लागू पड़ती है।

प्रश्न 230 – उभयाभासी कहता है कि शुभोपयोग है, वह शुद्धोपयोग का कारण है — क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर – ठीक नहीं है; जैसे – अशुभभाव कारण व शुभभाव कार्य और शुभभाव कारण, शुद्धभाव कार्य – ऐसा बनता नहीं है। यदि ऐसा हो तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरे, किन्तु

द्रव्यलिङ्गी के शुभोपयोग तो उत्कृष्ट होता है, शुद्धोपयोग होता ही नहीं; इसलिए परमार्थ से इनके कारण - कार्यपना नहीं है।

प्रश्न 231 - मिथ्यादृष्टि क्या करे तो शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो ?

उत्तर - जैसे - रोगी को बहुत रोग था, पश्चात् अल्प रोग रहा, तो वह अल्प रोग तो निरोग होने का कारण नहीं है। इतना है कि - अल्प रोग रहने पर, निरोग होने का उपाय करे तो हो जाये; परन्तु यदि अल्प रोग को ही भला जानकर उसको रखने का यत्न करने तो निरोग कैसे हो ? कभी ना होवे; उसी प्रकार कषायी के (मिथ्यादृष्टि के) तीव्रकषायरूप अशुभोपयोग था, पश्चात मिथ्यादृष्टि के मन्दकषायरूप शुभोपयोग हुआ परन्तु मिथ्यादृष्टि का वह शुभोपयोग तो निःकषाय शुद्धोपयोग होने का कारण है नहीं; इतना है कि तत्त्व के अभ्यासरूप शुभोपयोग होने पर, शुद्धोपयोग होने का यत्न करे तो हो जाए, परन्तु यदि शुभोपयोग को ही भला जानकर, उसका साधन किया करे तो शुद्धोपयोग कैसे हो ? नहीं होगा। चारों गतियों में घूमकर परम्परा निगोद की प्राप्ति हो।

प्रश्न 232 - शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का कारण क्यों कहा जाता है ?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोग होने पर, निकट शुद्धोपयोग की प्राप्ति होती है — ऐसे ज्ञानी की मुख्यता से चरणानुयोग में शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का कारण भी कहते हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग का कारण है ही नहीं — ऐसा जानना।

प्रश्न 233 - सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग पर परम्परा मोक्ष के हेतु /कारण का आरोप क्यों आता है और मिथ्यादृष्टि के शुभोपयोग पर क्यों नहीं आता है ?

उत्तर – (1) शुभोपयोगरूप व्यवहारव्रत शुद्धोपयोग का हेतु है और शुद्धोपयोग मोक्ष का हेतु है — ऐसा मानकर, यहाँ उपचार से व्यवहारव्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहा है। वास्तव में तो शुभोपयोगी मुनि को, मुनियोग्य शुद्धपरिणति ही (शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन करती है, इसलिए) विशेष शुद्धिरूप शुद्धोपयोग का हेतु होती है और वह शुद्धोपयोग, मोक्ष का हेतु होता है। इस प्रकार इस शुद्धपरिणति में से हुए मोक्ष के परम्परा हेतुपने का आरोप उसके साथ रहनेवाले शुभोपयोग में करके, व्यवहारव्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहा जाता है।

मिथ्यादृष्टि के, जहाँ शुद्धपरिणति ही न हो, वहाँ वर्तते हुए शुभोपयोग मे मोक्ष के परम्परा हेतुपने का अरोप भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ मोक्ष का यथार्थ परम्परा हेतु प्रगट ही नहीं हुआ है / विद्यमान ही नहीं है, वहाँ शुभोपयोग में आरोप किसका किया जाए? मिथ्यादृष्टि के शुभभावों पर तो कभी मोक्ष का आरोप आता ही नहीं परन्तु सम्यग्दृष्टि, नियम से शुभभाव का अभाव करके शुद्धदशा में आ जाता है; इसलिए सम्यग्दृष्टि के शुभभावों पर परम्परा मोक्ष का अरोप आता है; मिथ्यादृष्टि के शुभभावों पर परम्परा मोक्ष का आरोप नहीं आता है — ऐसा जानना।

प्रश्न 234 – श्री प्रवचनसार में शुद्धता और शुभभाव की मैत्री क्यों कही है?

उत्तर – यद्यपि राग तो शुद्धता का शत्रु है, परन्तु चरणानुयोग के शास्त्रों में ऐसा कथन करने की पद्धति है और यह व्यवहारनय का कथन है।

प्रश्न 235 – उभयाभासी अपने को निश्चयरत्नत्रय हुआ कैसे मानता है?

उत्तर – वर्तमान पर्याय में सिद्धसमान शुद्ध हूँ, केवलज्ञानादि सहित हूँ, इत्यादि प्रकार से आत्मा को शुद्ध माना, सो तो सम्यग्दर्शन हुआ; आत्मा को वैसा ही जाना, सो सम्यग्ज्ञान हुआ; आत्मा के वैसे ही विचार में प्रवर्तन किया, सो सम्यक्चारित्र हुआ — इस प्रकार वह अपने को निश्चयरत्नत्रय हुआ मानता है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 256]

प्रश्न 236 – क्या उभयाभासी का इस प्रकार निश्चयरत्नत्रय मानना ठीक है ?

उत्तर – मैं वर्तमान पर्याय में प्रत्यक्ष अशुद्ध, सो शुद्ध कैसे मानता, जानता, विचारता हूँ, इत्यादि विवेकरहित भ्रम से सन्तुष्ट होता है, सो उसका इस प्रकार निश्चयरत्नत्रय मानना ठीक नहीं है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 256]

प्रश्न 237 – उभयाभासी अपने को व्यवहाररत्नत्रय हुआ किस प्रकार मानता है ?

उत्तर – अरहन्तादिक के सिवाय अन्य देवादिक को नहीं मानता, व जैनशास्त्रानुसार जीवादिक के भेद सीख लिए हैं, उन्हीं को मानता है, औरों को नहीं मानता है – वह तो सम्यग्दर्शन हुआ; जैन शास्त्रों के अभ्यास में बहुत प्रवर्तता है – सो सम्यग्ज्ञान हुआ और व्रतादि क्रियाओं में प्रवर्तता है – सो सम्यक्चारित्र हुआ; इस प्रकार अपने को व्यवहाररत्नत्रय हुआ मानता है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 257]*

प्रश्न 238 – क्या उभयाभासी का इस प्रकार व्यवहाररत्नत्रय मानना ठीक नहीं है ?

उत्तर – ठीक नहीं है; क्योंकि व्यवहार तो उपचार का नाम है। सो उपचार भी तो तब बनता है, जब सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय के कारणादि हों। उभयाभासी को निश्चयरत्नत्रय प्रगट नहीं हुआ है;

इसलिए उसकी व्यवहाररत्नत्रय होने की मान्यता भी खोटी है।

प्रश्न 239 – उभयाभासी का निश्चय-व्यवहार सब झूठा क्यों बताया है ?

उत्तर – पहले तो मिथ्यादृष्टि का अध्यात्मशास्त्र में प्रवेश ही नहीं है और यदि वह प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है — जैसे (1) निश्चायाभासी, व्यवहार को छोड़कर भ्रष्ट होता है, अर्थात् अशुभभावों में प्रवर्तता है। (2) व्यवहारभासी, निश्चय को भलीभाँति जाने बिना, व्यवहार से ही मोक्ष मानता है; परमार्थतत्त्व में मूढ़ रहता है। (3) उसी प्रकार उभयाभासी, निश्चयाभास को जानता-मानता है, परन्तु व्यवहारसाधन को भी उपादेय मानता है; इसलिए उभयाभासी, स्वच्छन्द होकर अशुभरूप नहीं प्रवर्तता है; मिथ्यादर्शन-पूर्वक व्रतादिक शुभोपयोगरूप प्रवर्तता है; इसलिए अन्तिम ग्रैवेयक -पर्यन्त पद को प्राप्त करता है, परन्तु संसारपरिभ्रमण नहीं मिटता है। (4) यदि कोई बिरला जीव, यथार्थ स्याद्वादन्याय से सत्यार्थ को समझ ले तो उसे अवश्य ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

[श्री समयसार कलश, 137 का भावार्थ]

प्रश्न 240 – 'व्यवहार तो उपचार का नाम है, सो उपचार भी तो तब बनता है, जब सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय के कारणादिक हों' — इस वाक्यांश का रहस्य क्या है ?

उत्तर – (1) निज शुद्ध आत्मा में एकतारूप ध्यान करने से निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्ग प्रगट होता है – ऐसा नियम है। [अ] चौथा गुणस्थान प्रथम निर्विकल्पध्यान में प्रगट होता है। उस ध्यान से हटकर, सविकल्पदशा में सच्चे देवादिक के प्रति अस्थिरता का राग होता है। [आ] पाँचवा गुणस्थान भी निर्विकल्पदशा में प्राप्त होता है और सविकल्पदशा में भूमिका के योग्य अणुव्रतादि का

आचरण होता है। [इ] मुनि अवस्था में निर्विकल्पदशा साँतवें गुणस्थान में प्रगट होती है, छठवें गुणस्थान में अट्ठाईस मूलगुणरूप व्यवहार मोक्षमार्ग होता है; इसलिए ज्ञानियों को ही व्यवहार होता है; अज्ञानियों को नहीं होता है। (2) जैसे – 'कनस्तर में तेल भरा हो तो तेल का कनस्तर कहा जाता है, परन्तु कनस्तर में मिट्टी भरी हो तो तेल का कनस्तर नहीं कहा जाता है; उसी प्रकार जिसे निश्चय प्रगट हुआ हो, उसी के भूमिकानुसार राग पर मोक्षमार्ग का उपचार आता है, परन्तु जिसमें (मिथ्यादृष्टियों मैं) मोह-राग-द्वेष-भरा हो, उन पर मोक्षमार्ग का आरोप कैसे आ सकता है ? कभी भी नहीं आ सकता है। इसलिए व्यवहार तो उपचार का नाम है, सो उपचार भी तो तब बनता है, जब सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय के कारणादिक हों,' इसलिए अनुपचार हुए बिना, उपचार का अरोप नहीं आता है।

प्रश्न 241 – निश्चयभासी-व्यवहाराभासी और उभयाभासी के अज्ञान-अन्धकार दूर करने में कौन निमित्त हो सकता है ?

उत्तर – (1) जो सम्यग्दृष्टि हो; विद्याभ्यास करने से शास्त्र वाँचनेयोग्य बुद्धि प्रगट हुयी हो; सम्यग्ज्ञान द्वारा सर्व प्रकार के व्यवहार-निश्चयादिरूप व्याख्यान का अभिप्राय पहिचानता हो; जिसको शास्त्र वाँचकर आजीविका आदि लौकिककार्य साधने की इच्छा न हो; वह ही अज्ञानियों के अन्धकार मिटाने में निमित्त हो सकता है। (2) भूले हुए को मार्ग कौन दिखा सकता है, जो स्वयं उसका जानकार हो। जो स्वयं अन्धा हो, वह दूसरों को क्या मार्ग दिखायेगा ? नहीं दिखा सकता; उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी ही मोक्षमार्ग में निमित्त हो सकता है, अज्ञानी कभी भी निमित्त नहीं हो सकता है क्योंकि उपादान-निमित्त का ऐसा स्वभाव है। (3) श्री नियमसार, गाथा 53 में कहा है कि 'जो मुमुक्षु हैं, उनको भी उपचार से पदार्थ

निर्णय के हेतुपने के कारण (सम्यक्तवपरिणाम का) अन्तरङ्ग हेतु कहा है क्योंकि उनको दर्शनमोहनीयकर्म के क्षयादिक हैं।'

प्रश्न 242 – शुभभाव करते-करते धर्म की प्राप्ति हो जाएगी; व्रत-शील-संयमादि व्यवहारमोक्षमार्ग और मोक्ष का कारण हैं- ऐसी मान्यतावाले अज्ञानी जीवों के अज्ञान को दूर करने के लिए श्री समयसार, कलश टीका कलश 100 से लेकर 112 तक में क्या-क्या बताया है?

उत्तर – किसी मिथ्यादृष्टि जीव का ऐसा अभिप्राय है जो दया, व्रत, तप-शील, संयम आदि..... भले हैं, जीव को सुखकारी हैं, परन्तु .... जैसे अशुभकर्म, जीव को दु:ख करता है, उसी प्रकार शुभकर्म भी जीव को दु:ख करता है। कर्म में तो भला कोई नहीं है। अपने मोह को लिए हुए मिथ्यादृष्टि जीव, कर्म को भला करके मानता है। *[श्री समयसार, कलश 100]*

शुभकर्म भला, अशुभकर्म बुरा सो ऐसे दोनों जीव, मिथ्यादृष्टि हैं, दोंनो जीव, कर्मबन्ध कारणशील हैं। .....कोई जीव, शुभोपयोगी होता हुआ, यतिक्रिया में मग्न होता हुआ शुद्धापयोग को नहीं जानता है; केवल यतिक्रियामात्र में मग्न है। वह जीव..... ऐसा मानता है कि मैं तो मुनीश्वर, हमाको विषय-कषाय सामग्री निषिद्ध है — ऐसा जानकर, विषय-कषायसामग्री को छोड़ता है, आपको धन्यपना मानता है, मोक्षमार्ग मानता है, सो विचार करने पर ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि है। *[श्री समयसार, कलश 101]*

शुभकर्म के उदय में उत्तम पर्याय होती है, वहाँ धर्म की सामग्री मिलती है, उस धर्म की सामग्री से जीव, मोक्ष जाता है; इसलिए मोक्ष की परिपाटी शुभकर्म है। – ऐसा कोई मिथ्यावादी मानता है। .....निश्चित हुआ कि कोई कर्म, भला कोई कर्म बुरा, – ऐसा तो

नहीं; सब ही कर्म, दु:खरूप हैं। कर्म, नि:सन्देह बन्ध को करता है, गणधरदेव ने ऐसा कहा है। *[श्री समयसार, कलश 102]*

कोई मिथ्यादृष्टि जीव, शुभक्रिया को मोक्षमार्ग मानकर पक्ष करता है, सो निषेध किया; ऐसा भाव स्थापित किया कि मोक्षमार्ग, कोई कर्म नहीं। निश्चय से शुद्धस्वरूप अनुभव मोक्षमार्ग है, अनादि –परम्परा से ऐसा उपदेश है। *[श्री समयसार, कलश 103]*

अशुभक्रिया मोक्षमार्ग नहीं, शुभक्रिया भी मोक्षमार्ग नहीं, शुभ –अशुभ क्रिया में मग्न होता हुआ जीव, विकल्पी है, इससे दु:खी है। क्रिया–संस्कार छूटकर, शुद्धस्वरूप का अनुभव होते ही जीव निर्विकल्प है, इससे सुखी है। *[श्री समयसार, कलश 104]*

शुद्धस्वरूप का अनुभव, मोक्षमार्ग है; इसके बिना जो कुछ है, –शुभक्रियारूप, अशुभक्रियारूप अनेक प्रकार, वह सब बन्ध का मार्ग है। *[श्री समयसार, कलश 104]*

जिस प्रकार कामला का नाहर कहने के लिए नाहर (सिंह) है; उसी प्रकार आचरणरूप चारित्र, कहने के लिए चारित्र है, परन्तु चारित्र नहीं है –ऐसा नि:सन्देहरूप से जानना। *[श्री समयसार, कलश 107]*

व्यवहारचारित्र होता हुआ दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है; इसलिए विषय–कषाय के समान, क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है।

[श्री समयसार कलश, 108]

समस्त कर्मजाति, हेय है; पुण्य–पाप के विवरण की क्या बात रही! – ऐसी बात निश्चय से जानो! पुण्यकर्म, भला – ऐसी भ्रान्ति मत करो। *[श्री समयसार, कलश 109]*

पापरूप अथवा पुण्यरूप जितनी क्रिया है, वह सब मोक्षमार्ग नहीं है — ऐसा जानकर, समस्त क्रिया में ममत्व का त्याग कर, शुद्धज्ञान मोक्षमार्ग है — ऐसा सिद्धान्त सिद्ध हुआ। *[श्री समयसार, कलश 112]*

प्रश्न 243 – क्या आत्मज्ञान के बिना, अणुव्रत-महाव्रतादि बिल्कुल व्यर्थ हैं ?

उत्तर – जो पुरुष, सम्यग्दर्शन से रहित हैं, बाह्य आचरण से सन्तुष्ट हैं, उसके बाह्यपरिग्रह का त्याग है, वह निरर्थक है। पर्वत, पर्वत की गुफा, नदी के पास, पर्वत के जल से चीरा हुआ स्थान –इत्यादि स्थानों में रहना निरर्थक है। ध्यान, माला जपना, मन वचन काय को रोकना, ग्यारह अङ्ग नौ पूर्व का पढ़ना, महाव्रत, उपवासादि, ये सब निरर्थक हैं। बाह्य भेष, लोकरंजन का कारण है; इसलिए यह उपदेश है – इस महाव्रतादि से कुछ परामर्थ सिद्धि नहीं है।

[श्री मोक्षपाहुड़, गाथा 80-90]

प्रश्न 244 – जिसे जानने से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो, वैसा अवश्य जानने योग्य — प्रयोजनभूत क्या-क्या है ?

उत्तर – हेय-उपादेय तत्त्वों की परीक्षा करना; जीवादि द्रव्य, सात तत्त्व तथा सुदेव-गुरु-धर्म को पहिचानना; त्यागनेयोग्य मिथ्यात्व –रागादिक तथा ग्रहण करनेयोग्य सम्यग्दर्शन-ज्ञानादिक का स्वरूप जानना; निमित्त-नैमित्तिक आदि को जैसे हैं, वैसा ही जानना – इत्यादि जिनके जानने से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो, उन्हें अवश्य जानना चाहिए, क्योंकि वे प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 259]*

प्रश्न 245 – सम्यक्त्व का अधिकारी कौन और कब हो सकता है ?

उत्तर – देखो, तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचाररहित, देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं; और तत्त्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 260]

प्रश्न 246 – इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार समझाने से क्या लाभ है?

उत्तर – उन-उन प्रकारों को पहचान कर, अपने में ऐसा दोष हो तो उसे दूर करके, सम्यक्श्रद्धानी होना, औरों के ही ऐसे दोष देख-देखकर कषायी नहीं होना, क्योंकि अपना भला-बुरा तो अपने परिणामों से है; औरों को रुचिवान देखे तो कुछ उपदेश देकर उनका भी भला करे; इसलिए अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है; सर्व प्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर, सम्यग्दृष्टि होना योग्य है; क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 266]*

————

उभयाभासी की प्रवृत्ति का विशेष स्पष्टीकरण/ उपसंहार

प्रश्न 1 – (1) 'अन्तरङ्ग में आपने तो निर्धार करके यथावत् निश्चय–व्यवहार मोक्षमार्ग को पहिचाना नहीं, (2) जिनाज्ञा मानकर निश्चय–व्यवहाररूप मोक्षमार्ग दो प्रकार मानते हैं।' इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर – (1) उभयाभासी मान्यतावाले शिष्य ने अपनी ज्ञान की पर्याय में निर्णय करके यथावत् निश्चय–व्यवहार मुनिपने को पहिचाना नहीं। (2) तो फिर क्या हुआ ? जिनाज्ञा मानकर निश्चय–व्यवहाररूप मुनिपना दो प्रकार मानते हैं।

प्रश्न 2 – '(1) सो मोक्षमार्ग तो दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है। (2) जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाये, सो निश्चयमोक्षमार्ग है। (3) और जहाँ पर जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाये, सो व्यवहार, मोक्षमार्ग है। (4) क्योंकि निश्चय–व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। (5) सच्चा निरूपण सो निश्चय; उपचार निरूपण सो व्यवहार; इसलिए निरूपण अपेक्षा दो प्रकार का मोक्षमार्ग जानना; (6) किन्तु एक निश्चयमोक्षमार्ग है, एक व्यवहार –मोक्षमार्ग है; इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।' इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर - (1) सो मुनिपना दो प्रकार का नहीं है, मुनिपने का निरूपण दो प्रकार का है। (2) जहाँ तीन-चौकड़ी कषाय के अभावरूप सकलचारित्ररूप शुद्धि को मुनिपना निरूपति किया जाए, सो निश्चयमुनिपना है, (3) और जहाँ पर अट्ठाईस मूलगुणरूप अशुद्धि, मुनिपना तो है नहीं, परन्तु सकलचारित्र शुद्धिरूप मुनिपने का निमित्त है व सहचारी है, उस अट्ठाईस मूलगुणरूप अशुद्धि को उपचार से मुनिपना कहा जाये, सो व्यवहारमुनिपना है। (4) क्योंकि निश्चय-व्यवहार मुनिपने का चारों अनुयोगों में ऐसा ही लक्षण है। (5) सकलचारित्ररूप शुद्धि, मुनिपने का सच्चा निरूपण है -सो निश्चयमुनिपना है और अट्ठाईस मूलगुणरूप अशुद्धि, मुनिपने का उपचार निरूपण है, सो व्यवहारमुनिपना है, इसलिए निरूपण अपेक्षा दो प्रकार का मुनिपना जानना। (6) किन्तु एक सकलचारित्र शुद्धिरूप निश्चयमुनिपना है और एक अट्ठाईस मूलगुण अशुद्धिरूप व्यवहार -मुनिपना है; इस प्रकार दो मुनिपना मानना मिथ्या है।

प्रश्न 3 - '(1) तथा निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानता है, वह भी भ्रम है, (2) क्योंकि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्प विरोधसहित है, (3) कारण कि समयसार में ऐसा कहा है। (4) व्यवहार, अभूतार्थ है, सत्यस्वरूप का निरूपण नहीं करता; किसी अपेक्षा उपचार से अन्यथा निरूपण करता है (5) तथा शुद्धनय जो निश्चय है, वह भूतार्थ है, जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा निरूपण करता है। (6) इस प्रकार इन दोनों का स्वरूप तो विरुद्धतासहित है।' इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये।

उत्तर - (1) सकलचारित्ररूप शुद्धि को निश्चयमुनिपना कहा है, वह प्रगट करनेयोग्य उपादेय है और अट्ठाईस मूलगुणादि अशुद्धि

को व्यवहारमुनिपना कहा है, वह हेय है, परन्तु उभयाभासी मान्यतावाला जीव, निश्चय-व्यवहार दोनों मुनिपने को उपादेय मानता है। इस पर पण्डित टोडमरमलजी कहते हैं कि वह भी इसका भ्रम है। (2) क्यों भ्रम है ? क्योंकि निश्चय-व्यवहार मुनिपने का स्वरूप तो परस्पर विरोधसहित है, (3) क्योंकि समयसार में निश्चय -व्यवहार मुनिपने का स्वरूप ऐसा बताया है कि — (4) व्यवहारनय मुनिपने का अट्ठाईस मूलगुणादि अशुद्धिरूप निरूपण करता है, वह अभूतार्थ है। क्यों अभूतार्थ है ? क्योंकि वह मुनिपने का सकलचारित्र शुद्धिरूप निरूपण नहीं करता है; निमित्त की अपेक्षा उपचार से मुनिपने का अन्यथा निरूपण करता है। (5) तथा शुद्धनय जो निश्चय है, वह मुनिपने को सकलचारित्र शुद्धिरूप निरूपण करता है, वह भूतार्थ है। वह भूतार्थ क्यों है ? क्योंकि जैसा मुनिपने का सकलचारित्र शुद्धिरूप स्वरूप है, वैसे निरूपण करता है। (6) इस प्रकार निश्चय-व्यवहार मुनिपने का स्वरूप तो विरुद्धतासहित है।

प्रश्न 4 – '(1) तथा तू ऐसा मानता है कि सिद्धसमान शुद्ध आत्मा का अनुभवन सो निश्चय और व्रत-शील-संयमादिरूप प्रवृत्ति सो व्यवहार - सो तेरा ऐसा मानना ठीक नहीं है, (2) क्योंकि किसी द्रव्य-भाव का नाम निश्चय और किसी का नाम व्यवहार -ऐसा नहीं है। (3) एक ही द्रव्य के भाव को उसस्वरूप ही निरूपण करना, सो निश्चयनय है; उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरूपण करना, सो व्यवहारनय है। (4) जैसे, मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा निरूपित किया जाये, सो निश्चयनय और घृत के संयोग के उपचार से उसी को घृत का घड़ा कहा जाए, सो व्यवहार। (5) ऐसे ही अन्यत्र जानना'- इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर - (1) पण्डितजी, उभयाभासी मान्यतावाले जीव को समझाते हुए कहते हैं कि — तू ऐसा मानता है कि सकलचारित्ररूप शुद्ध आत्मा का अनुभवन, सो निश्चय मुनिपना और अट्ठाईस मूलगुणादिरूप प्रवृत्ति, सो व्यवहारमुनिपना—सो ऐसा तेरा निश्चय -व्यवहार का स्वरूप मानना ठीक नहीं है, (2) क्योंकि चारित्रगुण की शुद्धपर्याय का नाम, निश्चयमुनिपना और चारित्रगुण की अट्ठाईस मूलगुणादिरूप अशुद्धपर्याय का नाम, व्यवहारमुनिपना — ऐसा निश्चय-व्यवहार का स्वरूप नहीं है, क्योंकि प्रवृत्ति में निश्चय -व्यवहार नहीं होता है; प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन ही नहीं है, प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है। (3) यदि प्रवृत्ति में निश्चय-व्यवहार नहीं होता है - तो निश्चय-व्यवहार किसमें है? अभिप्रायपूर्वक किसी वस्तु के प्ररूपण में निश्चय-व्यवहार होता है। मुनिपने को, चारित्रगुण की सकलचारित्र शुद्धिरूप निरूपण करना, सो निश्चयनय है और मुनिपने को अट्ठाईस मूलगुणादि अशुद्धिरूप निरूपण करना, सो व्यवहारनय है। (4) जैसे —[अ] मिट्टी में अनादि काल से प्रवृत्ति (पर्याय) का प्रवाह चला आ रहा है, वह प्रवृत्ति है; अतः प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन ही नहीं है। [आ] प्रवृत्ति तो मिट्टी का परिणमन है। [इ] मानो मिट्टी की 10 नम्बर की पर्याय को ध्यान में लिया और उस 10 नम्बर की पर्याय का नाम आपने घड़ा रखा, तो उस घड़ारूप प्रवृत्ति को मिट्टी का घड़ा कहना, सो निश्चयनय है और घी के संयोग के उपचार से उसी घड़े को घी का घड़ा कहना, सो व्यवहारनय है; उसी प्रकार [अ] सम्यग्दर्शन होने के साथ ही आत्मा के चारित्रगुण में पर्याय का प्रवाह चला आ रहा है। वह प्रवृत्ति, शुद्धि और अशुद्धिरूप है। उस शुद्धि और अशुद्धिरूप प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन ही नहीं है। [आ] शुद्धि और अशुद्धि, आत्मा के चारित्रगुण का परिणमन है। [इ] मानो आपने चारित्रगुण की सकलचारित्ररूप शुद्धि जो 10

नम्बर की प्रवृत्ति है, उसको ध्यान में लिया और उस सकलचारित्ररूप शुद्धि का नाम मुनिपना रखा तो उस मुनिपने को सकलचारित्ररूप शुद्धि को मुनिपना निरूपण करना, सो निश्चयनय है और अट्ठाईस मूलगुणादि अशुद्धि के संयोग से उस मुनिपने को उपचार से अट्ठाईस मूलगुणादिरूप निरूपण करना, सो व्यवहारनय है। (5) मिट्टी के दृष्टान्त के अनुसार कथन में निश्चय-व्यवहार जानना-मानना, किन्तु प्रवृत्ति में निश्चय-व्यवहार नहीं जानना-मानना।

प्रश्न 5 - '(1) इसलिए तू किसी को निश्चय माने और किसी को व्यवहार माने, वह भ्रम है (2) तथा तेरे मानने में भी निश्चय-व्यवहार को परस्पर विरोध आया।(3) यदि तू अपने को सिद्धसमान शुद्ध मानता है तो व्रतादिक किसलिए करता है ? (4) यदि व्रतादिक के साधन द्वारा सिद्ध होना चाहता है, तो वर्तमान में शुद्ध आत्मा का अनुभवन मिथ्या हुआ।(5) इस प्रकार दोनों नयों के परस्पर विरोध है।(6) इसलिए दोनों नयों का उपादेयपना नहीं बनता।' इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर - (1) इसलिए तू सकचलचारित्र शुद्धिरूप आत्मा के अनुभवन को निश्चयमुनिपना माने और और अट्ठाईस मूलगुणादि अशुद्धिरूप प्रवृत्ति को व्यवहारमुनिपना माने - ऐसा तेरा निश्चय -व्यवहार मानना भी, तेरा भ्रम है।(2) निश्चयमुनिपना और व्यवहार -मुनिपना मानने में भी परस्पर विरोध आया। (3) क्या विरोध आया ? यदि तू अपने को सकलचारित्र शुद्धिरूप प्रगट मुनिपना मानता है, तो अट्ठाईस मूलगुणादि अशुद्धि का पालन क्यों करता है ? (4) यदि वह कहे कि - मैं अट्ठाईस मूलगुणादिरूप व्यवहार साधन द्वारा सकलचारित्र शुद्धिरूप मुनिपने की सिद्धि करना चाहता हूँ तो

वर्तमान में सकलचारित्र शुद्धिरूप मुनिपने का अनुभवन /प्रगटपना मानना – तेरा मिथ्या हुआ। (5) इस प्रकार निश्चयव्यवहार दोनों प्रकार का मुनिपना मानने में परस्पर विरोध है। (6) सकलचारित्र शुद्धिरूप आत्मा का अनुभवन, निश्चयमुनिपना है और अट्ठाईस मूलगुणादि अशुद्धिरूप प्रवृत्ति, सो व्यवहारमुनिपना है —इस प्रकार तेरी मान्यतानुसार निश्चय-व्यवहार मुनिपने में भी उपादेयपना नहीं बनता।

प्रश्न 6 –'(1) यहाँ प्रश्न है कि समयसारादि में शुद्ध आत्मा के अनुभव को निश्चय कहा है; व्रत-तप संयमादि को व्यवहार कहा है — उस प्रकार ही हम मानते हैं ? (2) समाधान- शुद्ध आत्मा का अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है; इसलिए उसे निश्चय कहा। यहाँ स्वभाव से अभिन्न, परभाव से भिन्न – ऐसा शुद्ध शब्द का अर्थ जानना। (3) संसारी को सिद्ध मानना – ऐसा भ्रमरूप अर्थ, शुद्ध शब्द का नहीं जानना। (4) तथा व्रत-तपादि मोक्षमार्ग हैं नहीं, निमित्तादिक की अपेक्षा उपचार से इनको मोक्षमार्ग कहते हैं; इसलिए इन्हें व्यवहार कहा है। (5) इस प्रकार भूतार्थ-अभूतार्थ मोक्षमार्गपने से इनको निश्चय-व्यवहार कहा है, सो ऐसा ही मानना। (6) परन्तु यह दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं, इन दोनों को उपादेय मानना, वह तो मिथ्याबुद्धि ही है।' — इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर – (1) उभयावासी मान्यतावाला जीव कहता है कि हमने समयसारादि शास्त्रों का अभ्यास किया है, उसमें बताया है कि शुद्ध आत्मा का सकलचारित्र वीतरागदशारूप अनुभव, निश्चयमुनिपना है और अट्ठाईस मूलगुणादि शुभभाव, व्यवहारमुनिपना है; समयसारादि के अनुसार ही हम मानते हैं, आप हम झूठा क्यों कहते हो? (2) **समाधान** – शुद्ध के दो अर्थ हैं। एक तो द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना

है; दूसरा पर्याय अपेक्षा शुद्धपना है। वहाँ द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना — द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्मों से भिन्नपना, और ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनन्त गुणों से अभिन्नपना, उसे शक्तिरूप मुनिपना कहा है और पर्याय अपेक्षा शुद्धपना – आत्मा के आश्रय से सकलचारित्ररूप शुद्धिपर्याय में प्रगट होना, उसे पर्याय में प्रगट मुनिपना कहा है। (3) फिर पण्डितजी, उभयाभासी मान्यतावाले जीव को समझाते हुए कहते हैं कि तू शक्तिरूप मुनिपना मानता नहीं है और पर्याय में सकलचारित्र शुद्धिरूप मुनिपना माने – यह भ्रमरूप अर्थ, शुद्ध शब्द का नहीं जानना (4) तथा अट्ठाईस मूलगुणादि का शुभभाव, मुनिपना नहीं है, परन्तु जिसको अपने निज ज्ञायक भगवान के आश्रय से सकलचारित्र शुद्धिरूप मुनिपना प्रगटा है, उस जीव के अट्ठाईस मूलगुणादिरूप शुभभावों को उपचार से, व्यवहारमुनिपना कहा है; परन्तु तुझे सकलचारित्र शुद्धिरूप मुनिपना प्रगट नहीं है; इसलिए तेरे अट्ठाईस मूलगुणादि के शुभभावों में मुनिपने का उपचार भी सम्भव नहीं है। अतः तेरी मान्यतानुसार तेरा माना हुआ निश्चयव्यवहार मुनिपना झूठा है। (5) इस प्रकार सकचलचारित्ररूप शुद्धि को भूतार्थ मुनिपना कहा है — सो ऐसा ही मानना (6) परन्तु सकल -चारित्ररूप शुद्धि, निश्चयमुनिपना और अट्ठाईस मूलगुणादि के शुभभाव, व्यवहारमुनिपना है। – ये दोनों ही सच्चा मुनिपना हैं और इन दोनों को ही उपादेय मानना, यह तो मिथ्यादृष्टिपना ही है।

प्रश्न 7– '(1) वहाँ वह कहता है कि श्रद्धान तो निश्चय का रखते हैं और प्रवृत्ति, व्यवहाररूप रखते हैं; इस प्रकार हम दोनों को अङ्गीकार करते हैं। (2) सो ऐसा भी नहीं बनता, क्योंकि निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है। (3) एक ही नय का श्रद्धान होने से

एकान्त मिथ्यात्व होता है।(4) तथा प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन ही नहीं है। (5) प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है। (6) वहाँ जिस द्रव्य की परिणति हो, उसको उसी की प्ररूपित करे, सो निश्चयनय; (7) और उसी को अन्य द्रव्य की प्ररूपित करे, सो व्यवहारनय। (8) ऐसे अभिप्रायानुसार प्ररूपण से उस प्रवृत्ति में दोनों नय बनते हैं।(9) कुछ प्रवृत्ति ही तो नयरूप है नहीं।(10) इसलिए इस प्रकार भी दोनों नयों का ग्रहण मानना मिथ्या है।' — इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर – उभयाभासी मान्यतावाला जीव कहता है कि (1) हम सकलचारित्र शुद्धिरूप निश्चयमुनिपने श्रद्धा रखते हैं और अट्ठाईस मूलगुणादिरूप व्यवहारमुनिपने की प्रवृत्ति रखते हैं — इस प्रकार हम निश्चय–व्यवहार दोनों मुनिपनों को अङ्गीकार करते हैं। (2) पण्डितजी ने समझाया है कि ऐसा भी नही बनता, क्योंकि यदि सकलचारित्र शुद्धिरूप निश्चय–मुनिपने का श्रद्धान रखते हो तो प्रवृत्ति भी सकलचारित्र शुद्धिरूप निश्चयमुनिपने की होनी चाहिए। इसलिए सकलचारित्र शुद्धिरूप जो निश्चयमुनिपना कहा है, वह प्रगट करनेयोग्य उपादेय है — यह निश्चय का निश्चयरूप श्रद्धान है और अट्ठाईस मूलगुणादि अशुद्धिरूप जो व्यवहारमुनिपना कहा है, वह बन्धरूप होने से हेय है, यह व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान है। (3) [अ] सकलचारित्र पर्याय में प्रगट हुए बिना, सकलचारित्ररूप शुद्धि मान ले, यह एकान्त मिथ्यात्व है। [आ] अनुपचार, अर्थात् निश्चयमुनिपना प्रगट हुए बिना, अट्ठाईस मूलगुणादिरूप प्रवृत्ति को व्यवहारमुनिपना मान ले, यह भी एकान्त मिथ्यात्व है। [इ] और हम सकलचारित्र शुद्धिरूप निश्चयमुनिपने का श्रद्धान रखते हैं और अट्ठाईस मूलगुणादिरूप व्यवहारमुनिपने की प्रवृत्ति का पालन करते

हैं, यह भी एकान्त मिथ्यात्व है। [ई] निश्चयाभासीपना, व्यवहार-भासीपना और उभयाभासीपना — यह तीनों एक ही नय का श्रद्धान होने से एकान्त मिथ्यात्व है। (4) यथार्थ मुनिपना होने पर, आत्मा के चारित्रगुण के परिणमन में शुद्धि-अशुद्धिरूप मिश्रदशा की प्रवृत्ति हो जाती है। उस मिश्रदशा की प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन ही नहीं है। (5) शुद्धि-अशुद्धिरूप मिश्रदशा, आत्मा के चारित्रगुण का कार्य है; इसलिए कहा है कि प्रवृत्ति तो द्रव्य को परिणति है। (6) वहाँ सकलचारित्ररूप शुद्धि को मुनिपना प्ररूपित करे, सो निश्चनय है (7) और वहीं पर अट्ठाईस मूलगुणादिरूप अशुद्धि को मुनिपना प्ररूपित करे, सो व्यवहारनय है। (8) ऐसे अभिप्रायानुसार कथन से सकलचारित्ररूप शुद्धि में और अट्ठाईस मूलगुणादिरूप अशुद्धि में निश्चय-व्यवहारमुनिपना कहा जाता है। (9) सकलचारित्र-रूप शुद्धि और अट्ठाईस मूलगुणादिरूप अशुद्धि ही तो नयरूप है नहीं। (10) सकलचारित्र शुद्धिरूप निश्चय-मुनिपने का श्रद्धान रखते हैं और अट्ठाईस मूलगुणादि व्यवहाररूप प्रवृत्ति का करते हैं; इसलिए इस प्रकार भी उभयाभासी शिष्य का निश्चय-व्यवहारमुनिपना मानना मिथ्या है।

प्रश्न 8 – '(1) तो क्या करें ? सो कहते हैं। (2) निश्चनय से जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना। (3) और व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना। (4) यही श्री समयसार, कलश 173 में कहा है। अर्थ — क्योंकि सर्व ही हिंसादि व अहिंसादि में अध्यवसाय है, वह समस्त ही छोड़ना—ऐसा जिनदेवों ने कहा है। (5) इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है, सो सर्व ही छुड़ाया

है। (6) सन्त पुरुष एक परम निश्चय ही को भले प्रकार निष्कम्परूप से अङ्गीकार करके शुद्धज्ञानघनरूप निज महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते? (7) इस प्रकार यहाँ व्यवहार का तो त्याग कराया है; इसलिए निश्चय को अङ्गीकार करके निज महिमारूप प्रवर्तना युक्त है।' - इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये?

उत्तर - '(1) निश्चयनय से जहाँ शास्त्रों में सकलचारित्ररूप शुद्धि को मुनिपना निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मुनिपना मानकर, उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना। (2) व्यवहारनय से जहाँ शास्त्रों में अट्ठाईस मूलगुणादिरूप अशुद्धि को मुनिपना निरूपित किया हो, उसे असत्यार्थ मुनिपना मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना। (3) भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने, श्री समयसार, कलश 173 में कहा है कि सकलचारित्र शुद्धिरूप मुनिपना प्रगट पर्याय में ना होने पर भी, मुझे सकलचारित्र शुद्धिरूप मुनिपना प्रगट है — ऐसा मानना और अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्ति को व्यवहारमुनिपना मानना — यह तो उभयाभासी मिथ्यादृष्टि का मिथ्या अध्यवसाय है तथा ऐसे-ऐसे और समस्त मिथ्या अध्यवसायों को छोड़ने का आदेश समस्त जिनेन्द्रभगवान की दिव्यध्वनि में आया है। (4) श्री अमृतचन्द्राचार्य स्वयं कहते हैं कि इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि अट्ठाईस मूलगुणादि का विकल्प जो, पराश्रित व्यवहार कहा है, सो सर्व ही छुड़ाया है। (5) तो फिर सन्तपुरुष एक परम निज त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करके सकलचारित्ररूप शुद्धि को प्रगट करके, शुद्धज्ञानघनरूप निज महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते? अर्थात्, श्रेणी माँडकर केवलज्ञान क्यों प्रगट नहीं करते? — ऐसा कहकर आचार्यभगवान ने खेद प्रगट किया है। (6) भावार्थ में बताया है कि अट्ठाईस मूलगुणादिरूप व्यवहार

–मुनिपने का त्याग करके, निज त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सकलचारित्ररूप शुद्धि प्रगट करके, निज महिमा में प्रवर्तन करके श्रेणी माँडकर केवलज्ञान प्रगट करना युक्त है।'

प्रश्न 9 – '(1) मोक्षपाहुड़, गाथा 31 में कुन्दकुन्द भगवान ने कहा है कि (2) जो व्यवहार में सोता है, वह योगी अपने आत्मकार्य में जागता है। (3) तथा जो व्यवहार में जागता है, वह अपने कार्य में सोता है। (4) इसलिए व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है।' — इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर – (1) जो अट्ठाईस मूलगुणादिरूप व्यवहारमुनिपने को श्रद्धान छोड़कर, सकलचारित्ररूप निश्चयमुनिपने की श्रद्धा करता है, वह योगी अपने आत्मकार्य में जागता है। (2) तथा जो अट्ठाईस मूलगुणादिरूप व्यवहारमुनिपने में जागता है, अर्थात् इसी को सच्चा मुनिपना मानता है — वह अपने आत्मकार्य में सोता है। (3) इसलिए अट्ठाईस मूलगुणादिरूप व्यवहारमुनिपने का श्रद्धान छोड़कर, सकल –चारित्ररूप निश्चयमुनिपने का श्रद्धान करनायोग्य है, क्योंकि यथार्थ में सकलचारित्ररूप शुद्धोपयोग ही मुनिपना है।

प्रश्न 10 – '(1) व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना। (2) निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना' — इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर – (1) अट्ठाईस मूलगुणादि व्यवहारमुनिपने का श्रद्धान

छोड़कर, सकलचारित्ररूप निश्चयमुनिपने का श्रद्धान क्यों करना योग्य है? इस प्रश्न का उत्तर उस वाक्य में है। **व्यवहारनय** = सकलचारित्ररूप निश्चयमुनिपना — यह स्वद्रव्य का भाव और अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपना — यह परद्रव्य का भाव, किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; अट्ठाईस मूलगुणादिरूप ही सच्चा मुनिपना है — ऐसे श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना।

(2) निश्चयनय = सकलचारित्ररूप निश्चयमुनिपना-स्वद्रव्य के भाव और अट्ठाईस मूलगुणादिरूप व्यवहारमुनिपना-परद्रव्य को भाव को यथावत् / जैसा का तैसा निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलता है; इसलिए अट्ठाईस मूलगुणादिरूप प्रवृत्ति, मुनिपना नहीं है; सकलचारित्ररूप शुद्धि ही मुनिपना है, ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना।

प्रश्न 11 – '(1) यहाँ प्रश्न है कि यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे? (2) समाधान – जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यतया लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' – ऐसा जानना। (3) तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' — ऐसा जानना। (4) इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है।' — इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये?

उत्तर – (1) उभयाभासी मान्यतावाला जीव, **प्रश्न** करता है, कि आप कहते हो कि अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहार-मुनिपने के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है, इसलिए उसका त्याग करना और सकलचारित्र शुद्धिरूप निश्चयमुनिपने के श्रद्धान से सम्यक्त्व

होता है; इसलिए उसका ग्रहण करना चाहिए – परन्तु जिनमार्ग में तो निश्चय-व्यवहार दोनों प्रकार के मुनिपने का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे? (2) वहाँ **समाधान** किया है कि जिनमार्ग में कहीं तो सकलचारित्र शुद्धिरूप मुनिपना कहा है, यह तो निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' — ऐसा जानना (3) तथा जिनमार्ग में कहीं अट्ठाईस मूलगुणादिरूप प्रवृत्ति को मुनिपना कहा है, यह व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'ऐसा है नहीं, निमित्तादिक की अपेक्षा उपचार से कथन किया है' — ऐसा जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही निश्चय-व्यवहार मुनिपने का ग्रहण है।

प्रश्न 12 – '(1) तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर ऐसे भी हैं और ऐसे भी है – इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।' — इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये?

उत्तर – कोई-कोई चतुर विद्वान, निश्चयनय से सकलचारित्र शुद्धि भी मुनिपना है, और व्यवहारनय से अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति भी मुनिपना है — ऐसा कहते हैं। क्या उन चतुर विद्वानों का ऐसा कहना झूठा है? वहाँ **उत्तर** दिया है कि ऐसे चतुर विद्वानों का कहना झूठा ही है क्योंकि निश्चय और व्यवहारनय के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर सकलचारित्र शुद्धि भी मुनिपना है और अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप भी मुनिपना है — इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो निश्चय-व्यवहारनय का ग्रहण करना जिनमार्ग में नहीं कहा है।

प्रश्न 13 – '(1) फिर प्रश्न है कि यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिए दिया? एक

निश्चयनय ही का निरूपण करना था। (2) समाधान — ऐसा ही तर्क समयसार, में किया है, वहाँ उत्तर दिया है — जिस प्रकार अनार्य, अर्थात् म्लेच्छ को म्लेच्छभाषा के बिना, अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है; इसलिए व्यवहार का उपदेश है। (3) तथा इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि इस निश्चय को अङ्गीकार कराने के लिए व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं (4) परन्तु व्यवहारनय है, सो अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है।' — इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर – (1) उभयाभासी मान्यतावाला जीव कहता है कि यदि अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहार मुनिपना असत्यार्थ है तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिए दिया? एक सकलचारित्र शुद्धिरूप निश्चयमुनिपने का ही निरूपण करना था। (2) उसका यह **समाधान** किया कि जिस प्रकार म्लेच्छ का म्लेच्छभाषा बिना के अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने के बिना, सकलचारित्र शुद्धिरूप निश्चयमुनिपने का उपदेश अशक्य है; इसलिए उसका उपदेश है। (3) तथा टीका में कहा है कि सत्यार्थ निश्चयमुनिपने का ज्ञान कराने के लिए, असत्यार्थ व्यवहारमुनिपने का उपदेश है। (4) अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपना है, उसका विषय भी है; जाननेयोग्य है, परन्तु अङ्गीकार करने (यथार्थ मुनिपना मानने) योग्य नहीं है।

प्रश्न 14 – '(1) व्यवहार बिना, निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता ?(2) समाधान — निश्चय से वीतरागभाव मोक्षमार्ग है, उसे जो नहीं पहचानते, उनको ऐसे ही कहते रहे तो वे समझ

नहीं पाये। (3) परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा; (4) व्यवहारनय से व्रत-शील-संयमादिरूप वीतरागभाव के विशेष बतलाये, तब उन्हें वीतरागभाव की पहिचान हुई।' — इस वाक्य को मुनिपने पर लगाकर समझाइये ?

उत्तर - (1) अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति मुनिपना है — ऐसे व्यवहार के बिना सकलचारित्र शुद्धिरूप निश्चयमुनिपने का उपदेश कैसे नहीं होता? (2) **समाधान** — निश्चय से सकल -चारित्ररूप वीतरागभाव ही मुनिपना है। उस सकलचारित्र वीतराग -भावरूप मुनिपने को जो नहीं पहिचानते, उनसे ऐसे ही कहते रहे तो वे समझ नहीं पाये। (3) तब उनको, जिन्हें सकलचारित्ररूप वीतराग मुनिपना प्रगट हुआ है, उनके अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्ति के विरुद्ध धर्म-विरोधी कार्यों के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा; (4) व्यवहारनय से अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति को सकलचारित्र वीतरागभावरूप मुनिदशा के विशेष बतलाया। तब उन्हें सकलचारित्र वीतरागभावरूप मुनिपने की पहचान हुई।

प्रश्न 15 - '(1) व्यवहारनय कैसे अङ्गीकार नहीं करना ? सो कहिये ? (2) समाधान - परद्रव्य का निमित्त मिटने की अपेक्षा से; (3) व्यवहारनय से व्रत-शील-संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना। (4) क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा, परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जावे, परन्तु कोई द्रव्य, किसी द्रव्य के आधीन नहीं। (5) इसलिए आत्मा अपने भाव, रागादिक हैं, उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है। (6) इसलिए निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। (7) वीतरागभावों के और व्रतादिक के कदाचित कार्य-कारणपना है; (8) इसलिए

व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहें, सो कथनमात्र ही है; (9) परमार्थ से बाह्यक्रिया, मोक्षमार्ग नहीं है — ऐसा ही श्रद्धान करना।' — इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर - (1) अट्ठाईस मूलगुणादि अशुद्धिरूप व्यवहारमुनिपने को कैसे अङ्गीकार नहीं करना चाहिए? सो स्पष्टता से समझाइये। (2) वहाँ उत्तर दिया है कि भूमिकानुसार अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति व पीछी-कमण्डल के अलावा कुछ न होने, घरों में न रहने, किया-कराया-अनुमोदित भोजन न लेने आदि धर्म विरोधी परद्रव्य का निमित्त मिटने की अपेक्षा से; (3) व्यवहारनय से अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्ति को मुनिपना कहा, सो इसी को मुनिपना नहीं मान लेना; (4) क्योंकि अट्ठाईस मूलगुणादिरूप शरीर की क्रिया का ग्रहण -त्याग आत्मा के हो तो आत्मा, परद्रव्य की क्रिया का कर्ता-हर्ता हो जावे, परन्तु कोई द्रव्य, किसी द्रव्य के आधीन नहीं है; अतः अट्ठाईस मूलगुणादिरूप शरीर की क्रिया से तो आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध ही नहीं है। (5) इसलिए आत्मा अपने अट्ठाईस मूलगुणादिरूप जो रागादिकभाव हैं, उन्हें छोड़कर सकलचारित्र वीतरागभावरूप होता है; (6) इसलिए निश्चय से सकलचारित्र वीतरागभाव ही सच्चा मुनिपना है। (7) अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्ति और सकलचारित्र वीतरागभाव के निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है। (8) इसलिए अट्ठाईस मूलगुणादिरूप प्रवृत्ति को मुनिपना कहा है, सो कथनमात्र ही है। (9) परमार्थ से अट्ठाईस मूलगुणादिरूप बाह्यक्रिया, मुनिपना नहीं है - ऐसा ही श्रद्धान करना।

प्रश्न 16 - '(1) यहाँ प्रश्न है कि व्यवहारनय, पर को उपदेश में ही कार्यकारी है या अपना भी प्रयोजन साधता है ? (2) समाधान — आप भी जब तक निश्चयनय से प्ररूपित

वस्तु को न पहिचाने, तब तक व्यवहारमार्ग से वस्तु का निश्चय करें; (3) इसलिए निचलीदशा में अपने को भी व्यवहारनय कार्यकारी है (4) परन्तु व्यवहार को उपचारमात्र मानकर, उसके द्वारा वस्तु को ठीक प्रकार समझे, तब तो कार्यकारी हो, (5) परन्तु यदि निश्चयवत् व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर 'वस्तु इस प्रकार ही है' – ऐसा श्रद्धान करे तो उल्टा अकार्यकारी हो जाए। (6) यही श्री पुरुषार्थसिद्धियुपाय, श्लोक 6-7 में कहा है कि मुनिराज, अज्ञानी को समझाने के लिए, असत्यार्थ जो व्यवहारनय, उसका उपदेश देते हैं।(7) जो केवल व्यवहार ही को जानता है, उसे उपदेश ही देना योग्य नहीं है।(8) तथा जैसे कोई सच्चे सिंह को न जाने, उसे बिलाव ही सिंह है; उसी प्रकार जो निश्चय को नहीं जाने, उसको व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त होता है।' — इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर – (1) अट्ठाईस मूलगुणादि पालने के भावरूप मुनिपना है – ऐसा व्यवहारनय, पर को ही उपदेश में कार्यकारी है या कुछ अपना भी प्रयोजन साधता है ? यह प्रश्नकार का प्रश्न है। (2) समाधान – शिष्य भी जब तक निश्चयनय से प्ररूपित वीतराग शुद्धोपयोगरूप मुनिदशा को न समझे, तब तक व्यवहारमार्ग से वीतराग शुद्धोपयोगरूप मुनिदशा का निश्चय करे; (3) इसलिए निचलीदशा में शिष्य को भी अट्ठाईस मूलगुणादि मुनिपना है – ऐसा व्यवहारनय कार्यकारी है। व्यवहारनय कार्यकारी कब कहा जावेगा ? जब निज ज्ञायक भगवान के आश्रय से पर्याय में वीतराग शुद्धोपयोगरूप मुनिदशा प्रगट करे। (4) परन्तु अट्ठाईस मूलगुणादिरूप मुनिदशा है — ऐसे व्यवहार को उपचारमात्र मानकर, उसके द्वारा वीतराग शुद्धोपयोगरूप

मुनिपने को ठीक प्रकार समझे तब तो कार्यकारी है। (5) परन्तु यदि सकलचारित्र वीतरागभावरूप निश्चयमुनिपने के समान अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने को भी सच्चा मानकर 'मुनिपना इस प्रकार ही है।' ऐसा श्रद्धान करे तो उल्टा अनर्थकारी हो जावे। (6) यही बात पुरुषार्थसिद्धियुपाय, श्लोक 6-7 में बतलायी है कि जो झगड़ाखोर नहीं है, परन्तु जैसा मुनिराज कहते हैं, वैसा ही मानता है — ऐसे अज्ञानी को मुनिराज, ज्ञानी बनाने के लिए असत्यार्थ जो व्यवहारनय है, उसका उपदेश देते हैं। (7) जो अज्ञानी मूलगुणादि ही मुनिपना है - ऐसे व्यवहार का ही पक्ष करता है - ऐसे अज्ञानी को मुनिराज, देशना के योग्य नहीं मानते हैं। (8) जैसे, कोई जंगल में जा रहा था और उसने कभी सिंह नहीं देखा था, उसे बड़ी मूछोंवाली बिल्ली दिखाकर कहा कि सिंह ऐसा होता है, तब वह पुरुष, बड़ी मूछोंवाली बिल्ली को ही सिंह मान ले; तो वह देशना के अयोग्य है; उसी प्रकार कोई सकलचारित्र शुद्धिरूप मुनिपने को न पहिचाने और अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहार मुनिपने को सच्चा मुनिपना मान ले तो वह भगवान की वाणी सुनने योग्य नहीं है क्योंकि उसने व्यवहारमुनिपने को ही सच्चा मुनिपना मान लिया।

प्रश्न 15 - '(1) यहाँ कोई निर्विचारी पुरुष ऐसा कहे कि तुम व्यवहार को असत्यार्थ, हेय कहते हो तो हम व्रत-शील-संयमादि व्यवहारकार्य किसलिए करें, सबको छोड़ देंगे? (2) उससे कहते हैं कि व्रत-शील-संयमादि का नाम व्यवहार नहीं है।(3) इनको मोक्षमार्ग मानना, व्यवहार है, उसे छोड़ दे (4) और ऐसा श्रद्धान कर कि इनको तो बाह्य सहकारी जानकर, उपचार से मोक्षमार्ग कहा है - यह तो परद्रव्याश्रित है। (5) तथा सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित

है। (6) इस प्रकार व्यवहार को असत्यार्थ-हेय जानना। (7) व्रतादिक को छोड़ने से तो व्यवहार का हेयपना नहीं होता है।' — इस वाक्य पर मुनिपने को लगाकर समझाइये ?

उत्तर - (1) 28 मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपना हेय है और सकलचारित्र शुद्धिरूप निश्चयमुनिपना प्रगट करनेयोग्य उपादेय है - ऐसे हेय-उपादेय का जिसे विचार नहीं है - ऐसा निर्विचारी पुरुष कहता है कि तुम अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने को असत्यार्थ, हेय कहते हो तो हम अट्ठाईस मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने का पालन क्यों करें ? हम तो व्यवहारमुनिपने को छोड़कर, अशुभ में प्रवर्तन करेंगे — ऐसा प्रश्नकार का **प्रश्न** है। (2) उसे **उत्तर** दिया है कि अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति का नाम व्यवहारमुनिपना नहीं है। (3) उसे मुनिपना मानना (कहना) व्यवहार है — इस खोटी मान्यता को छोड़ दे। (4) ऐसा श्रद्धान कर कि जिसको अपनी आत्मा के आश्रय से सकलचारित्र शुद्धिरूप निश्चयमुनिपना प्रगट है, उसके अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति को बाह्य सहकारी जानकर उपचार से मुनिपना कहा है; अट्ठाईस मूलगुणादि की प्रवृत्ति तो परद्रव्याश्रित है। (5) तथा सच्चा मुनिपना तो सकलचारित्ररूप शुद्धि ही है और यह स्वद्रव्याश्रित है। (6) इस प्रकार मूलगुणादि प्रवृत्तिरूप व्यवहारमुनिपने को असत्यार्थ-हेय ही जानना। (7) अट्ठाईस मूलगुणादिरूप प्रवृत्ति को छोड़ने से तो व्यवहारमुनिपने का हेयपना नहीं होता है।

प्रश्न 16 - '(1) फिर हम पूछते हैं कि व्रतादिक को छोड़कर क्या करेगा ? (2) यदि हिंसादिरूप प्रवर्तेगा तो वहाँ तो मोक्षमार्ग का उपचार भी सम्भव नहीं है। वहाँ प्रवर्तने से क्या भला होगा ? नरकादि प्राप्त करेगा। इसलिए ऐसा करना तो

निर्विचारीपना है।(3) तथा व्रतादिरूप परिणति को मिटाकर, केवल वीतराग उदासीनभावरूप होना बने तो अच्छा ही है। (4) वह निचलीदशा में हो नहीं सकता।(5) इसलिए व्रतादिक साधन छोड़कर, स्वच्छन्द होना योग्य नहीं है।(6) इस प्रकार श्रद्धान में निश्चय को और प्रवृत्ति में व्यवहार को उपादेय मानना - वह भी मिथ्याभाव ही है।' — इस वाक्य को मुनिपने पर लगाकर समझाइये ?

उत्तर - (1) पण्डितजी, उभयाभासी मान्यतावाले जीव से पूछते हैं कि अट्ठाईस मूलगुणादिरूप प्रवृत्ति को छोड़कर तू क्या करेगा? (2) यदि अट्ठाईस मूलगुणादिरूप शुभभावों को छोड़कर, हिंसादि अशुभभावों में प्रवर्तेगा तो वहाँ तो मुनिपने का उपचार भी सम्भव न हो सकेगा और अशुभभावों में प्रवर्तने से तेरा क्या भला होगा? नरकादि के दुःखों को प्राप्त करेगा; इसलिए अट्ठाईस मूलगुणादि के शुभभावों को छोड़कर, अशुभभावों में प्रवर्तना तो निर्विचारीपना है। (3) अट्ठाईस मूलगुणादिक व्यवहारमुनिपने की परिणति को मिटाकर, केवल यथाख्यातचारित्र वीतराग शुद्धोपयोगभावरूप होना बने तो अच्छा है। (4) वह निचली दशा में नहीं हो सकता है। (5) इसलिए अट्ठाईस मूलगुणादिक के शुभभावों को छोड़कर, स्वछन्द-पापी होना नहीं है। (6) इस प्रकार श्रद्धान में निश्चय को और प्रवृत्ति में व्यवहार को उपादेय मानना — वह भी मिथ्याभाव है।

— — — —

3

श्री पञ्चास्तिकाय में समागत एकान्त व्यवहाराभासी का स्वरूप

प्रश्न 1 – एकान्त व्यवहाराभासी किसका अवलम्बन करते हैं ?

उत्तर – एकमात्र व्यवहार का अवलम्बन करते हैं।

प्रश्न 2 – एकान्त व्यवहाराभासी एकमात्र व्यवहार का अवलम्बन क्यों करते हैं ?

उत्तर – 'वास्तव में साध्य और साधन अभिन्न होते हैं, उसका अनुभव–ज्ञान ना होने से शुभभावरूप साधन से ही शुद्धभावरूप साध्य प्राप्त होगा' – ऐसी खोटी श्रद्धा और खोटा ज्ञान होने से, एकमात्र व्यवहार का अवलम्बन करते हैं।

प्रश्न 3 – एकान्त व्यवहाराभासी, श्रद्धा के लिए क्या करते हैं और क्या नहीं करते हैं ?

उत्तर – धर्मादि परद्रव्यों की श्रद्धा करते हैं; आत्मा की श्रद्धा नहीं करते हैं।

प्रश्न 4 – एकान्त व्यवहाराभासी, ज्ञान के लिए क्या करते हैं, क्या नहीं करते हैं ?

उत्तर – द्रव्यश्रुत के पठन–पाठनादि संस्कारों से अनेक प्रकार के विकल्पजाल से चैतन्यवृत्ति को धारण करते हैं; आत्मा का ज्ञान नहीं करते हैं।

प्रश्न 5 – एकान्त व्यवहाराभासी, चारित्र के लिए क्या करते हैं ?

उत्तर – यति के समस्त व्रत समुदायरूप, तपादि प्रवृत्तिरूप कर्मकाण्डों की धमाल में पागल बने रहते हैं; कभी पुण्य की रुचि करते हैं, कभी दयावन्त होते हैं।

प्रश्न 6 – एकान्त व्यवहाराभासी, दर्शनाचार के लिए क्या करते हैं ?

उत्तर – किसी समय प्रशमता (क्रोध, मानादि सम्बन्धी राग –द्वेष की मन्दता); किसी समय संवेग (विकारीभावों का भय); किसी समय अनुकम्पा, दया (सर्व प्राणियों पर दया का प्रादुर्भाव); और किसी समय मे आस्तिक्य में (जीवादि तत्त्वों का जैसा अस्तित्व है, वैसा ही आगम–युक्ति से मानना) वर्तते हैं तथा शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि आदि भाव उत्पन्न ना हों – ऐसी शुभोपयोगरूप सावधानी रखते हैं; मात्र व्यवहारनयरूप उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना इन अङ्गों की भावना विचारते हैं और इस सम्बन्धी उत्साह को बार–बार बढ़ाते हैं।

प्रश्न 7 – एकान्त व्यवहाराभासी, ज्ञानाचार के लिए क्या करते हैं ?

उत्तर – स्वाध्याय का काल विचारते हैं; अनेक प्रकार की विनय में प्रवृत्ति करते हैं; शास्त्र की भक्ति के लिए विनय का विस्तार करते हैं; दुर्धर उपधान करते हैं —आरम्भ करते हैं; शास्त्रों का भले प्रकार से बहुमान करते हैं; गुरु–आदि में उपकारप्रवृत्ति को नहीं भूलते; अर्थ–व्यंजन और इन दोनों की शुद्धता में सावधान रहते हैं।

प्रश्न 8 – एकान्त व्यवहाराभासी, चारित्राचार के लिए क्या करते हैं ?

उत्तर – हिंसा, झूठ, चोरी, स्त्री–सेवन और परिग्रह–इन सबसे विरतरूप पंच–महाव्रतों से स्थिरवृत्ति धारण करते हैं; योग (मन –वचन–काय) के निग्रहरूप गुप्तियों के अवलम्बन का उद्योग करते हैं; ईर्या–भाषा–ऐषणा–आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग – इन पाँच समितियों में सर्वथा प्रयत्नवन्त बर्तते हैं।

प्रश्न 9 – एकान्त व्यवहाराभासी, तपाचार के लिए क्या करते हैं ?

उत्तर – अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश में निरन्तर उत्साह रखते हैं; प्रायश्चित्, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान के लिए चित्त को वश में करते हैं।

प्रश्न 10 – एकान्त व्यवहाराभासी, वीर्याचार के लिए क्या करते हैं ?

उत्तर – कर्मकाण्ड में सर्व शक्तिपूर्वक वर्तते हैं।

प्रश्न 11 – एकान्त व्यवहाराभासी इस सबमें सावधानी रखते हैं। इसका फल क्या होगा और क्या नहीं होगा ?

उत्तर – ऐसा करते हुए कर्मचेतना की प्रधानतापूर्वक अशुभभाव की प्रवृत्ति छोड़ते हैं, किन्तु शुभभाव की प्रवृत्ति को आदरनेयोग्य मानकर अङ्गीकार करते हैं; इसलिए सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड के आडम्बर से अतिक्रान्त दर्शन–ज्ञान–चारित्र की ऐक्य परिणतिरूप ज्ञानचेतना को वे किसी भी समय प्राप्त नहीं होते हैं। वे बहुत पुण्य के भार से मन्थर (मन्द; सुस्त) हुई चित्तवृत्तिवाले वर्तते हैं; इसलिए स्वर्गलोकादि के क्लेश प्राप्त करके, परम्परा से दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं।

4

पाँच लब्धियों का स्वरूप

प्रश्न 1 – लब्धियाँ कितनी होती हैं और उनके क्या नाम हैं ?

उत्तर – पाँच होती हैं; क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, और करण – ये पाँच नाम हैं।

प्रश्न 2 – क्षायोपशमलब्धि क्या है ?

उत्तर – जिसके होने पर तत्त्वविचार हो सके — ऐसा ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम हो; उसकी प्राप्ति, सो क्षयोपशमलब्धि है।

प्रश्न 3 – क्षायोपशमलब्धि में उपादान-निमित्त क्या है ?

उत्तर – क्षयोपशमभाव, उपादानकारण है और उसके योग्य ज्ञानावरणीयकर्म का क्षयोपशम, निमित्त है।

प्रश्न 4 – प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करनेयोग्य क्षयोपशम तो सर्व पञ्चेन्द्रिय जीवों के हुआ है – क्या उन सबको क्षयोपशमलब्धि की प्राप्ति नहीं है ?

उत्तर – प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने योग्य क्षयोपशम तो सर्व पञ्चेन्द्रिय संज्ञी जीवों के प्रगट हुआ है परन्तु उस क्षयोपशम को सांसारिक प्रयोजन में, दवाखाना खोलने में, देश की सेवा में, जीवों की दया पालन में, व्रतादि पालने लगावे, उसको क्षयोपशमलब्धि की प्राप्ति नहीं है परन्तु जैसा अनादि से सच्चे-देव-गुरु-शास्त्र कहते हैं; उसी प्रकार तत्त्व का विचार करे; अन्य प्रकार की बात ध्यान में ना लावे, तब उसे क्षयोपशमलब्धि की प्राप्ति कही जा सकती है।

प्रश्न 5 – विशुद्धिलब्धि क्या है ?

उत्तर – मोह का मन्द उदय आने से मन्दकषायरूप भाव हो, जहाँ तत्त्वविचार हो सके, सो विशुद्धिलब्धि है।

प्रश्न 6 – विशुद्धिलब्धि क्या बताती हैं ?

उत्तर – तत्त्व के विचार में ज्ञान का विकास हुआ हो, तब राग की दशा कैसी होती है ? अर्थात्, कषाय बहुत मन्द होती है, यह विशुद्धिलब्धि बताती है।

प्रश्न 7 – देशनालब्धि क्या है ?

उत्तर – जिनदेव के उपदिष्ट तत्त्व का धारण हो, विचार हो, सो देशनालब्धि है।

प्रश्न 8 – देशनालब्धि में उपादान और निमित्त क्या है ?

उत्तर – उपदेशित नो पदार्थों की धारणा होना, उपादानकारण है और ज्ञानी गुरु, निमित्तकारण है।

प्रश्न 9 – देशनालब्धि क्या बताती है ?

उत्तर – जिसको तत्त्वविचाररूप क्षयोपशम, मन्दकषायरूप विशुद्ध अवस्था होती है, तब वह भगवान की या गुरु की देशना सुनने लायक है। तब उसे अपनी योग्यता से, जैसा सच्चा गुरु कहते हैं, वैसा ही ध्यान में बैठता है, यह देशनालब्धि बताती है। यहाँ उपदिष्ट कहा है; कोई, उपदेश बिना अकेले शास्त्र पढ़कर देशनालब्धि प्राप्त नहीं कर सकता है।

प्रश्न 10 – प्रायोग्यलब्धि क्या हैं ?

उत्तर – कर्मों की पूर्व सत्ता अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण रह जाए और नवीन बन्ध अन्तः कोड़ाकोड़ी प्रमाण उसके संख्यातवें भागमात्र हो, वह भी उस लब्धिकाल से लगाकर क्रमशः मिटता

जावे – इत्यादि योग्य अवस्था का होना, सो प्रयोग्यलब्धि है।

प्रश्न 11 – प्रायोग्यलब्धि में उपादान–निमित्तकारण क्या है ?

उत्तर – कर्म की स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी कालमात्र रहने योग्य जीव का परिणाम, उपादानकारण है और द्रव्यकर्म की उस प्रकार की स्थिति का होना, निमित्तकारण है।

प्रश्न 12 – प्रायोग्यलब्धि क्या बताती है ?

उत्तर – कर्मों की स्थिति स्वयं घटती जाती है – ऐसा कर्म की दशा का होना, यह प्रायोग्यलब्धि बताती है।

प्रश्न 13 – ये चारों लब्धियाँ किसको होती हैं ?

उत्तर – चारों लब्धियाँ मोटेरूप से भव्य और अभव्य दोनों के कही जाती है परन्तु चारों लब्धियाँ होने के बाद करणलब्धि होने पर तुरन्त ही सम्यक्त्व प्रकट होता है। जिसको करणलब्धि हो, उसी को वास्तव में चार लब्धियाँ हुई हैं, अन्यथा लब्धियों का कोई लाभ नहीं है क्योंकि कार्य होने पर ही कारण पर उपचार आता है।

प्रश्न 14 – श्री गोमट्टसार में लब्धियों के विषय में क्या कहा है ?

उत्तर – जो जीव, करणलब्धि में आता है, उसे 'सातिशय मिथ्यादृष्टि' कहा है, उसे नियम से सम्यक्त्व होता ही है। करणलब्धि–वाले जीव की चार लब्धियाँ भी विचित्र प्रकार की होती हैं।

प्रश्न 15 – वृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 37 की टीका में लब्धियों के विषय में क्या कहा है ?

उत्तर – 'करणलब्धि, सम्यक्त्व होने के समय होती है। अध्यात्मभाषा में निज शुद्धात्माभिमुखपरिणाम नाम के विशेष प्रकार की निर्मलभावनारूप खड़्ग से पुरुषार्थ करके, कर्मशत्रुओं का नाश करता है।'

प्रश्न 16 – श्री प्रवचनसार में श्री जयसेनाचार्य ने क्या कहा है ?

उत्तर – आगम की भाषा से अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृतिकरण नाम के परिणाम विशेषों के बल से जो विशेषभाव, दर्शनमोह का अभाव करने को समर्थ है, उनमें अपने आत्मा को जोड़ता है; फिर निर्विकल्पस्वरूप की प्राप्ति के लिए, जैसे – हार में पर्यायरूप से मोती, गुणरूप से सफेदी आदि अभेदनय से एक हार ही मालूम पड़ता है; उसी प्रकार पूर्व में कहे हुए द्रव्य–गुण–पर्याय, अभेदनय से आत्मा ही है – ऐसी भावना करते–करते दर्शनमोह का अन्धकार नष्ट हो जाता है। *(श्री प्रवचनसार, गाथा 80)*

प्रश्न 17 – कारणलब्धि किसको नहीं होती है ?

उत्तर – जिस जीव को पुण्य की रुचि है और बाहरी अनुकूलता अच्छी लगती है – जैसे, हम कुछ दिन जिन्दा रहें तो धर्म समझें, आँख–नाक–कान – शरीर ठीक रहे, रुपये–पैसा की अनुकूलता रहे, गुरु का उपदेश मिलता रहे तो मैं धर्म कर सकूँ — ऐसे जीवों को करणलब्धि नहीं होती है।

प्रश्न 18 – करणलब्धि किसको होती है ?

उत्तर – जिसे पुण्य की रुचि छूटती है, उसे अपूर्वकरण से निर्जरा होनी शुरु हो जाती है। कषाय का मन्द होना, यह तो विकार का सूचक है, उसकी बात यहाँ पर नहीं है परन्तु अपूर्वकरण में निर्जरा, गलन होनेरूप, अर्थात् नाश होनेरूप होती है।

प्रश्न 19 – करणलब्धि में कौनसा गुणस्थान है ?

उत्तर – पहला मिथ्यात्वगुणस्थान है। दर्शनमोहनीयकर्म का बन्ध होता है परन्तु बन्ध कम होता है; निर्जरा ज्यादा होती हैं, तब निर्विकल्पता होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

प्रश्न 20 – आगम में अपूर्वकरणलब्धि से जैन क्यों कहा है, जबकि वहाँ पहला गुणस्थान है और निर्जरा भी क्यों कही है ?

उत्तर – अपूर्वकरण में मिथ्यात्वसम्बन्धी रजकण कम आते हैं और अभाव ज्यादा का होता है। इसी प्रकार अनिवृत्तिकरण में अपूर्वकरण से ज्यादा मिथ्यात्वकर्म के रजकण खिर जाते हैं और बहुत कम आते हैं। कर्म खिरने की अपेक्षा निर्जरा कहने में आती है तथा अपूर्वकरण होने पर नियम से सम्यग्दर्शन होता ही है; इसलिए आगम में अपूर्वकरण से जैन कहा है। अपूर्वकरण में मिथ्याश्रद्धा पतली पड़ जाती है और मिथ्यात्व के रजकण कम आते हैं; इसलिए निर्जरा कही है।

प्रश्न 21 – अधःकरण होने पर नियम से अपूर्वकरण होता है, तब अधःकरण से आगम में जैन क्यों नहीं कहा गया है ?

उत्तर – अधःकरण में मिथ्यात्व के रजकण जितने आते हैं, उतने ही खिर जाते हैं; इसलिए अधःकरण से आगम में जैन नहीं कहा है।

प्रश्न 22 – क्या करणलब्धि होने पर सम्यक्त्व होता ही है ?

उत्तर – हाँ, ऐसा नियम है। जिसे चार लब्धियाँ तो हुई हों और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जिसके सम्यक्त्व होना हो, उसी जीव के करणलब्धि होती है।

प्रश्न 23 – उस करणलब्धिवाले जीव को क्या उद्यम होता है ?

उत्तर – बुद्धिपूर्वक तत्त्वविचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाये, उससे समय-समय परिणाम निर्मल होते जाते हैं। जैसे, किसी के शिक्षा का विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे शीघ्र

ही उसकी प्रतीति हो जाएगी; उसी प्रकार तत्त्वोपदेश का विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसका श्रद्धान हो जाएगा।

प्रश्न 24 – क्या करणलब्धि के परिणाम, वचनगम्य हैं ?

उत्तर – नहीं हैं। अन्तर में चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होने पर अन्तर में कोई सूक्ष्मपरिणाम हो जाता है, वह केवलीगम्य है; वचन गम्य नहीं है।

प्रश्न 25 – मैं कारणलब्धि करूँ – क्या ऐसा भाव होता है ?

उत्तर – बिल्कुल नहीं होता। मैं अधःकरण करूँ, अनिवृत्तिकरण करूँ – ऐसा लक्ष्य नहीं होता है, क्योंकि करूँ–करूँ, यह तो स्थूल राग है परन्तु अन्तर में आत्मसन्मुख होने पर, अधःकरणादि के परिणाम हो जाते हैं, वे अपनी अपनी बुद्धि में नहीं आते हैं।

प्रश्न 26 – अधःकरणादि को अध्यात्मदृष्टि और आगमदृष्टि से क्या कहा जाता है ?

उत्तर – अध्यात्मदृष्टि में आत्मसन्मुख परिणाम कहा जाता है और आगमदृष्टि से अधःकरणादि कहे जाते हैं। जीव के विशुद्ध परिणामों का निमित्त होने पर, द्रव्यकर्म का भी स्वयं वैसा परिणमन हो जाता है परन्तु जीव का उद्यम तो आत्मसन्मुख परिणाम ही है।

प्रश्न 27 – करणलब्धि में उपादान–निमित्तकारण क्या है ?

उत्तर – आत्मा में सम्यक्त्व के योग्य परिणामों की विशुद्धि, उपादानकारण है; द्रव्यकर्मों की उस समय पर्याय की योग्यता, निमित्तकारण है।

प्रश्न 28 – सम्यक्त्व होने पर उपादान–निमित्तकारण क्या है ?

उत्तर – आत्मा के श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय प्रगट होना, उपादानकारण है; दर्शनमोहनीय के उपशमादि, निमित्तकारण हैं।

प्रश्न 29 – करणलब्धि के तीन भेद कौन–कौन से हैं ?

उत्तर – अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण – यह तीन भेद हैं।

प्रश्न 30 – अधःकरण क्या है ?

उत्तर – अधःकरण, अर्थात् हल्का; आत्मा के सन्मुख परिणाम हुआ है, परन्तु हल्का है; इसलिए अधःकरण कहा है।

प्रश्न 31 – शास्त्रों में अधःकरण की परिभाषा क्या बतायी है ?

उत्तर – त्रिकालवर्ती सर्व करणलब्धिवाले जीवों के परिणामों की अपेक्षा से ये तीन नाम हैं। वहाँ करण नाम तो परिणाम का है। जहाँ पहले और पिछले समयों के परिणाम समान हों, सो अधःकरण है। जैसे – किसी जीव के परिणाम, उस करण के पहले समय में अल्प विशुद्धता से सहित हुए, पश्चात् समय-समय अनन्तगुणी विशुद्धता से बढ़ते गये, तथा उसके द्वितीय-तृतीय आदि समयों में जैसे परिणाम हों, वैसे किन्हीं अन्य जीवों के प्रथम समय में ही हों और उनके उससे समय-समय अनन्तगुणी विशुद्धता से बढ़ते हों — इस प्रकार अधःकरण जानना। *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 262)*

प्रश्न 32 – अधःकरण का स्वरूप समझने में नहीं आया – कृपया दृष्टान्त देकर स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर – तीसरी कक्षा में एक विद्यार्थी पढ़ता है, वह एक वर्ष में मेहनत करके पास होकर चौथी कक्षा में आ जाता है और दूसरा विद्यार्थी दूसरी कक्षा में पढ़ता है, वह इतना होशियार है कि वह एक वर्ष में दो कक्षाएँ पास करके चौथी कक्षा में पहुँच जाता है; वैसे ही आठ बजे जिसने अधःकरण माँड़ा हो, वह एक समय के बाद जितनी शुद्धि प्रगट करता है, उतनी शुद्धि आठ बजकर एक मिनट पर अधःकरण माँडनेवाला दूसरा जीव, विशेष पुरुषार्थ द्वारा, पहले जीव की जितनी शुद्धि है, उतनी ही प्रगट कर लेता है, उसे अधःकरण कहते हैं।

प्रश्न 33 – अपूर्वकरण क्या है ?

उत्तर – आत्मसन्मुख परिणाम अपूर्व–अपूर्व ही हो, वह अपूर्व–करण है।

प्रश्न 34 – शास्त्रों में अपूर्वकरण की परिभाषा क्या बतायी है ?

उत्तर – जिसमें पहले और पिछले समयों के परिणाम समान न हों, अपूर्व ही हों; वह अपूर्वकरण है। जैसे कि – उस करण के परिणाम, जैसे पहले समय में हो, वैसे किसी भी जीव के द्वितीयादि समयों में नहीं होते, बढ़ते ही होते हैं; तथा यहाँ अध:करणवत् जिन जीवों के करण का पहला समय ही हो, उन अनेक जीवों के परिणाम परस्पर समान भी होते हैं और अधिक हीन–विशुद्धतासहित भी होते हैं परन्तु यहाँ इतना विशेष हुआ कि इसकी उत्कृष्टता से भी द्वितीयादि समयवाले के जघन्य परिणाम भी अनन्तगुणी विशुद्धतासहित ही होते हैं। इसी प्रकार जिन्हें अपूर्वकरण प्रारम्भ किये द्वितीयादि समय हुए हों, उनके उस समयवालों के परिणाम तो परस्पर समान या असमान होते हैं परन्तु ऊपर के समयवालों के परिणाम उस समय समान सर्वथा नहीं होते, अपूर्व ही होते हैं। इस प्रकार अपूर्वकरण जानना। *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 262)*

प्रश्न 35 – अपूर्वकरण का स्वरूप भी समझ में नहीं आया – कृपया दृष्टान्त देकर स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर – एक कक्षा में 25 विद्यार्थी हैं। उसमें आखिरी नम्बरवाला विद्यार्थी के बराबर, चौथी कक्षा का विद्यार्थी पहला नम्बरवाला हो तो भी उसके समान नहीं हो सकता; वैसे ही पहले जिस जीव ने अपूर्वकरण माँडा हो, उसके पीछेवाला उसके साथ शुद्धि में कभी भी समानता को प्राप्त नहीं हो सकता, वह सदा काल पीछे ही रहेगा, उसे

अपूर्वकरण कहते हैं। जैसे — एक कक्षा के जितने विद्यार्थी हैं; वह सब एक सरीखे होशियार नहीं होते, अर्थात् उसमें हीनाधिकता होती है; वैसे ही अपूर्वकरण माँडनेवाले पाँच जीव हों, उनका विशुद्धिरूप परिणाम एक समान नहीं रहता है, उसे अपूर्वकरण कहते हैं ?

प्रश्न 36 – अनिवृत्तिकरण क्या है ?

उत्तर – आत्मपरिणाम और विशेषता लिए हुए होना; जिसके अभाव से नियम से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

प्रश्न 37 – शास्त्रों में अनिवृत्तिकरण की परिभाषा क्या बतायी है ?

उत्तर – जिसमें समान समयवर्ती जीवों के परिणाम, समान ही होते हैं। निवृत्ति, अर्थात् परस्पर भेद, उससे रहित होते हैं; जैसे — उस करण के पहले समय में सर्व जीवों के परिणाम परस्पर समान ही होते हैं, उसी प्रकार द्वितीयादि समयों में परस्पर समानता जानना। तथा प्रथमादि समयवालों से द्वितीयादि समयवालों के अनन्तगुणी विशुद्धतासहित होते हैं। इस प्रकार अनिवृत्तिकरण जानना।

प्रश्न 38 – अनिवृत्तिकरण का स्वरूप भी समझ में नहीं आया – कृपया दृष्टान्त देकर स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर – जैसे पाँचवीं कक्षा के सब विद्यार्थी समान होशियार ही हों, वैसे ही एक साथ अनिवृत्तिकरण माँडनेवाले जितने जीव हों, उन सबके परिणाम समान हों, अर्थात् जिनके परिणामों में कोई भेद न हो, उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

प्रश्न 39 – अधःकरण आदि तीनों भाव कैसे हैं ?

उत्तर – शुभभावरूप हैं, जिसके अभाव होते ही धर्म की प्राप्ति होती है और क्रम से मोक्ष लक्ष्मी का नाथ बन जाता है।

प्रश्न 40 – (1) श्री कार्तिकेयस्वामी ने सम्यग्दृष्टि की धर्मअनुप्रेक्षा के विषय में क्या बताया है ? (2) सम्यग्दृष्टि जीव, वस्तुस्वरूप का कैसा चिन्तन करता है ? (3) उसमें मोक्षमार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ भी किस प्रकार आ जाता है ?

उत्तर – यहाँ मूलगाथाएँ लेकर इनका विवेचन किया जा रहा है।

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा आहव मरणं वा ॥321॥

तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥322॥

अर्थात् — जिस जीव को, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधि से, जन्म-मरण, सुख-दुःख तथा रोग और दारिद्रता इत्यादि जैसे सर्वज्ञदेव ने जाने हैं; उसी प्रकार वे सब नियम से होंगे। सर्वज्ञदेव ने जिस प्रकार जाना है; उसी प्रकार उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, और उसी विधि से नियमपूर्वक सब होता है। उसके निवारण करने के लिए इन्द्र या जिनेन्द्र-तीर्थङ्करदेव कोई भी समर्थ नहीं हैं।

प्रश्न 41 – इन दो गाथाओं के भावार्थ में क्या बताया है ?

उत्तर – सर्वज्ञदेव, समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अवस्थाओं को जानते हैं। सर्वज्ञ के ज्ञान में जो कुछ प्रतिभासित हुआ है, वह सब निश्चय से होता है; उसमें हीनाधिक कुछ भी नहीं होता; इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है।

प्रश्न 42 – इन दो गाथाओं और भावार्थ से क्या सिद्ध हुआ ?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि की धर्मानुप्रेक्षा कैसी होती है और सम्यग्दृष्टि जीव, वस्तु के स्वरूप का किस प्रकार चिन्तन करता है – यह बात यहाँ बतायी है। सम्यग्दृष्टि की यह भावना, झूठा आश्वासन देने के

लिए नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेव के द्वारा देखा गया वस्तुस्वरूप ऐसा ही है; यह कोई कल्पना नहीं है, यह धर्म की बात है। 'जिस काल में जो होनेवाली अवस्था, सर्वज्ञ भगवान ने देखी है, उस काल में वही अवस्था होती है; दूसरी नहीं होती।' इस निर्णय में एकान्तवाद या नियतवाद नहीं है किन्तु सर्वज्ञ की प्रतीतिपूर्वक सच्चा अनेकान्तवाद और ज्ञानस्वभाव की भावना तथा ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ निहित है।

प्रश्न 43 – सामान्य-विशेष, वस्तु का स्वभाव है, इससे क्या सिद्ध होता है?

उत्तर – आत्मा, सामान्य – विशेषस्वरूप वस्तु है, वह अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप है। द्रव्य, सामान्य और समय-समय पर जो पर्याय होती है, वह विशेष है। सामान्यरूप में ध्रुव रहकर वस्तु का विशेषरूप परिणमन होता है; उस विशेषपर्याय में, यदि स्वरूप की रुचि करे तो समय-समय पर विशेष में शुद्धता होती है, और यदि उस विशेषपर्याय में ऐसी विपरीतरुचि करे कि 'जो रागादि व देहादि है, वह मैं हूँ' — तो विशेष (पर्याय) में अशुद्धता होती है। जिसे स्वरूप की रुचि है, उसे शुद्धपर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है; और जिसे विकार की, पर की रुचि है, उसे अशुद्धपर्याय, क्रमबद्ध प्रगट होती है। चैतन्य को क्रमबद्धपर्याय में अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु क्रमबद्ध का ऐसा नियम है कि जीव जिस ओर की रुचि करता है, उस ओर की क्रमबद्धदशा होती है। जिसे ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा व रुचि होती है, उसकी पर्याय, शुद्ध होती है; सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय होती है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता – इतना निश्चय करने में तो ज्ञानस्वभावी द्रव्य की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। यहाँ पर्याय का क्रम नहीं बदलना है, किन्तु अपनी ओर रुचि करनी है। रुचि के अनुसार पर्याय होती है।

5

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी कृत

गोम्मटसार पीठिका प्रश्नोत्तर

मैं मन्दबुद्धि, (इस ग्रन्थ का) अर्थप्रकाशपनेरूप इसकी टीका करने का विचार कर रहा हूँ। यह विचार तो ऐसा हुआ, जैसे कोई अपने मुख से जिनेन्द्रदेव का सर्व गुणों वर्णन करना चाहे, तो वह कैसे करे ?

प्रश्न 1 – नहीं बनता; तो उद्यम क्यों कर रहे हो ?

उत्तर – जैसे जिनेन्द्रदेव के सर्व गुणों का वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं है, फिर भी भक्तपुरुष, भक्ति के वश अपनी बुद्धि के अनुसार गुण–वर्णन करता है; उसी प्रकार इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण अर्थ का प्रकाशन करने की सामर्थ्य न होने पर भी, अनुराग के वश मैं अपनी बुद्धि–अनुसार अर्थ का प्रकाशन करूँगा।

प्रश्न 2 – यदि अनुराग है तो अपनी बुद्धि–अनुसार ग्रन्थाभ्यास करो, किन्तु मन्दबुद्धिवालों को टीका करने का अधिकारी होना उचित नहीं है ?

उत्तर – जैसे, किसी पाठशाला में बहुत बालक पढ़ते हैं, उनमें कोई बालक विशेष ज्ञानरहित है, फिर भी अन्य बालकों से अधिक पढ़ा है, तो वह अपने से अल्प पढ़नेवाले बालकों को अपने समान ज्ञान होने के लिए कुछ लिख देने आदि के कार्य का अधिकारी होता है; उसी प्रकार मुझे विशेष ज्ञान नहीं है, फिर भी कालदोष से मुझसे

भी मन्दबुद्धिवाले हैं और होंगे ही; उन्हीं के लिए मुझ समान इस ग्रन्थ का ज्ञान होने के लिए टीका करने का अधिकारी हुआ हूँ।

प्रश्न 3 – यह कार्य करना है – ऐसा तो आपने विचार किया, किन्तु छोटा मनुष्य, बड़ा कार्य करने का विचार करे तो वहाँ उस कार्य में गलती होती ही है, और वहाँ वह हास्य का स्थान बन जाता है; उसी प्रकार आप भी मन्दबुद्धिवाले हैं; अतः इस ग्रन्थ की टीका करने का विचार कर रहे हो तो गलती होगी ही और वहाँ हास्य का स्थान बन जाओगे।

उत्तर – यह बात तो सत्य है कि मैं मन्दबुद्धि होने पर भी ऐसे महानग्रन्थ की टीका करने का विचार करता हूँ, वहाँ भूल तो हो सकती है, किन्तु सज्जन हास्य नहीं करेंगे। जैसे, दूसरों से अधिक पढ़ा हुआ बालक कहीं भूल करे, तब बड़ेजन ऐसा विचार करते हैं कि बालक है, भूल करे ही करे, किन्तु अन्य बालकों से भला है; इस प्रकार विचारकर हास्य नहीं करेंगे; उसी प्रकार मैं यहाँ कहीं भूल जाऊँ, वहाँ सज्जन पुरुष ऐसे विचार करेंगे कि वह मन्दबुद्धि था, सो भूले ही भूले, किन्तु कितने ही अतिमन्दबुद्धिवालों से तो भला है, ऐसे विचारकर हास्य नहीं करेंगे।

प्रश्न 4 – सज्जन तो हास्य नहीं करेंगे, किन्तु दुर्जन तो करेंगे ही?

उत्तर – दुष्ट तो ऐसे ही हैं, जिनके हृदय में दूसरों के निर्दोष–भले गुण भी विपरीतरूप ही भासते हैं, किन्तु उनके भय से, जिसमें अपना हित हो–ऐसे कार्य को कौन न करेगा?

प्रश्न 5 – पूर्व ग्रन्थ तो थे ही, उन्हीं का अभ्यास करने–करवाने से ही हित होता है; मन्दबुद्धि, ग्रन्थ की टीका करने की महन्तता क्यों प्रगट करते हो?

उत्तर – ग्रन्थ का अभ्यास करने से ग्रन्थ के टीका की रचना करने में उपयोग विशेष लग जाता है, अर्थ भी विशेष प्रतिभास में आता है। अन्य जीवों को ग्रन्थाभ्यास कराने का संयोग होना – दुर्लभ और संयोग होने पर भी किसी जीव को अभ्यास होता है किन्तु ग्रन्थ की टीका बनने से तो परम्परागत अनके जीवों को अर्थ का ज्ञान होगा; इसलिए स्व-पर अन्य जीवों का विशेष हित होने के लिए टीका करने में आती है; महन्तता का तो कुछ प्रयोजन ही नहीं है।

प्रश्न 6 – यह सत्य है कि इस कार्य में विशेष हित होता है, किन्तु बुद्धि की मन्दता से ही भूल से अन्यथा अर्थ लिखा जाए तो वहाँ महापाप की उत्पत्ति होने से अहित भी होगा।

उत्तर – यथार्थ सर्व पदार्थों के ज्ञाता तो केवली भगवान हैं; दूसरों को ज्ञानावरण का क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान है, उसको कोई अर्थ अन्यथा भी प्रतिभास में आ जाए, किन्तु जिनदेव का ऐसा उपदेश है –कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रों के वचन की प्रतीति से व हठ से, व क्रोध –मान–माया–लोभ से व, हास्य, भयादिक से यदि अन्यथा श्रद्धा करे वा उपदेश दे तो वह महापापी है और विशेषज्ञानवान गुरु के निमित्त बिना व अपने विशेष क्षयोपशम बिना, कोई सूक्ष्म अर्थ अन्यथा प्रतिभासित हो और वह ऐसा जाने कि जिनदेव का उपदेश ऐसे ही है – ऐसा जानकर, कोई सूक्ष्म अर्थ की अन्यथा श्रद्धा करे व उपदेश दे तो उसका महत् पाप नहीं होता, वही इस ग्रन्थ में भी आचार्य ने कहा है —

सम्माइट्ठी जीवों उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥27॥ जीवकाण्ड

प्रश्न 7 – आपने अपने विशेषज्ञान से ग्रन्थ का यथार्थ सर्व अर्थ का निर्णय करके टीका करने का प्रारम्भ क्यों नहीं किया ?

उत्तर – कालदोष से केवली – श्रुतकेवली का तो यहाँ अभाव ही हुआ; विशेषज्ञानी भी विरल मिलते हैं। जो कोई है, वह तो दूर क्षेत्र में हैं, उनका संयोग दुर्लभ है और आयु, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि तुच्छ रह गये हैं; इसलिए जितना हो सका, वह अर्थ का निर्णय किया, अवशेष जैसे हैं, तैसे प्रमाण हैं।

प्रश्न 8 – तुमने कहा वह सत्य है, किन्तु इस ग्रन्थ में जो भूल होगी, उनके शुद्ध होने का कुछ उपाय भी है?

उत्तर – ज्ञानवान् पुरुषों का प्रत्यक्ष संयोग नहीं है, इससे उनको परोक्ष ही ऐसी विनती करता हूँ – मैं मन्दबुद्धि हूँ, विशेषज्ञान रहित हूँ, अविवेकी हूँ, शब्द, न्याय, गणित, धार्मिक आदि ग्रन्थों का विशेष अभ्यास मुझे नहीं है; इसलिए मैं शक्तिहीन हूँ, फिर भी धर्मानुराग के वश टीका करने का विचार किया है, उसमें जहाँ–जहाँ भूल हो, अन्यथा अर्थ हो जाए, वहाँ–वहाँ मेरे ऊपर क्षमा करके उस अन्यथा अर्थ को दूर करके यथार्थ अर्थ लिखना; इस प्रकार विनती करके जो भूल होगी उसे शुद्ध होने का उपाय किया है।

प्रश्न 9 – आपने टीका करने का विचार किया, वह तो अच्छा किया है, किन्तु ऐसे महान ग्रन्थ की टीका, संस्कृत ही चाहिए; भाषा में तो उसकी गम्भीरता भासित नहीं होगी?

उत्तर – इस ग्रन्थ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका तो पूर्व है ही, किन्तु वहाँ संस्कृत, गणित–आम्नाय आदि के ज्ञानरहित जो मन्दबुद्धि हैं, उनका प्रवेश नहीं होता। यहाँ कालदोष से बुद्धि आदि के तुच्छ होने से संस्कृतादि के ज्ञानरहित जीव बहुत हैं, उन्हीं को इस ग्रन्थ के अर्थ का ज्ञान होने के लिए भाषाटीका करता हूँ। जो जीव, संस्कृतादि के विशेषज्ञानवान हैं, वह मूलग्रन्थ वा टीका से अर्थ धारण करें। जो जीव, संस्कृतादि विशेषज्ञानरहित हैं, वे इस

भाषा टीका से अर्थ ग्रहण करें। और जो जीव, संस्कृतादि ज्ञानसहित हैं, परन्तु गणित आम्नायादिक के ज्ञान के अभाव से मूलग्रन्थ का व संस्कृत टीका में प्रवेश नहीं पा सकते हैं, वे इस भाषाटीका से अर्थ को धारण करके मूलग्रन्थ व संस्कृत टीका में प्रवेश करें, और जो भाषाटीका से मूलग्रन्थ व संस्कृत टीका में अधिक अर्थ हो सके, उसके जानने का अन्य उपाय बनें, उसे करें।

प्रश्न 10 – संस्कृत ज्ञानवालों को भाषा अभ्यास में अधिकार नहीं है ?

उत्तर – संस्कृत ज्ञानवालों को भाषा बाँचने से तो दोष आते नहीं हैं, अपना प्रयोजन जैसे सिद्ध हो, वैसे ही करना। पूर्व में अर्द्धमागधी आदि भाषामय महाग्रन्थ थे। जब बुद्धि की मन्दता जीवों के हुई, तब संस्कृतादि भाषामय ग्रन्थ बने। अब, विशेषबुद्धि की मन्दता जीवों को हुई, उससे देशभाषामय ग्रन्थ करने का विचार हुआ। संस्कृतादि अर्थ भी अब भाषा द्वारा जीवों को समझाते हैं। यहाँ भाषा द्वारा ही अर्थ लिखने में आया हो, कुछ दोष नहीं है। इस प्रकार विचार कर श्रीमद गोम्मटसार, द्वितीय नाम पञ्चसंग्रह ग्रन्थ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक टीका के अनुहार 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' नामक यह देशभाषामयी टीका करने का निश्चय किया है। श्री अरहन्तदेव व जिनवाणी व निर्ग्रन्थ गुरुओं के प्रसाद से और मूलग्रन्थकर्ता श्री नेमिचन्द आदि आचार्य के प्रसाद से यह कार्य सिद्ध हो।

अब, इस शास्त्र के अभ्यास में जीवों को सन्मुख किया जाता है। हे भव्य जीव! तुम अपने हित की वाँछा करते हो तो तुमको जिस प्रकार हित बने, वैसे ही इस शास्त्र का अभ्यास करना। कारण कि आत्मा का हित मोक्ष है; मोक्ष के बिना अन्य जो है, वह परसंयोगजनित है, विनाशीक है, दुःखमय है; और मोक्ष है, वही

निजस्वभाव है, अविनाशी है, अनन्त सुखमय है; इसलिए मोक्षपद की प्राप्ति का उपाय तुमको करना चाहिए। मोक्ष का उपाय, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। इनकी प्राप्ति जीवादिक के स्वरूप जानने से ही होती है – उसे कहता हूँ

जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उसे बिना जाने श्रद्धान का होना आकाश के फूलसमान है। प्रथम जाने तब फिर वैसे ही प्रतीति करने से श्रद्धान को प्राप्त होता है; इसलिए जीवादिक का जानना, श्रद्धान होने से पूर्व ही होता है, वही उनके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन का कारणरूप जानना। श्रद्धान होने पर, जो जीवादिक का जानना होता है, उसी का नाम सम्यग्ज्ञान है, तथा श्रद्धानपूर्वक जीवादि को जानते ही स्वयंमेव उदासीन होकर हेय का त्याग, उपादेय का ग्रहण करता है, तब सम्यक्चारित्र होता है। अज्ञानपूर्वक क्रियाकाण्ड से सम्यक्चारित्र नहीं होता। इस प्रकार जीवादिक को जानने से ही सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के उपायों की प्राप्ति निश्चय करनी ही चाहिए।

इस शास्त्र के अभ्यास से जीवाकादि का जानना यथार्थ होता है। जो संसार है, वह जीव और कर्म का सम्बन्धरूप है तथा विशेष जानने से इनके सम्बन्ध का अभाव हाता है, वही मोक्ष है। इसलिए इस शास्त्र में जीव और कर्म का ही विशेष निरूपण है। अथवा जीवादिक, षट्द्रव्य, सात तत्त्वादिक का भी उसमें यथार्थ निरूपण है; अतः इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना।

प्रश्न 11 – अब यहाँ अनेक जीव इस शास्त्र के अभ्यास में अरुचि होने का कारण, विपरीत विचार प्रगट करते हैं। अनेक जीव प्रथमानुयोग व चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग का केवल पक्ष करके इस करणानुयोग शास्त्र में अभ्यास का निषेध करते हैं। उनमें से प्रथमानुयोग का पक्षपाती कहता है – कि वर्तमान में

जीवों की बुद्धि मन्द बहुत है, उन्हीं को ऐसे सूक्ष्म व्याख्यानरूप शास्त्र में कुछ भी समझ होती नहीं। इससे तीर्थङ्करादि की कथा का उपदेश दिया जाए, तो ठीक समझ लेगा और समझकर पाप से डरकर, धर्मानुरागरूप होगा; इसलिए प्रथमानुयोग का उपदेश कार्यकारी हैं - उन्हें उत्तर दिया जाता है।

उत्तर - अब भी सब जीव तो एक से नहीं हुए हैं, हीनाधिक बुद्धि दिख रही है; अतः जैसे जीव हो; वैसे उपदेश देना। अथवा मन्दबुद्धि जीव भी सिखाने से अभ्यास में बुद्धिमान होता दिख रहा है; इसलिए जो बुद्धिमान हैं, उन्हीं को तो वह ग्रन्थ कार्यकारी ही है, और जो मन्दबुद्धि हैं वे विशेषबुद्धि द्वारा सामान्य-विशेषरूप गुणस्थानादिक का स्वरूप सीखकर, इस शास्त्र के अभ्यास में प्रवृति करें।

प्रश्न 12 - यहाँ मन्दबुद्धि कहता है कि यह गोम्मटसारशास्त्र तो गणित समस्या का वर्णन करनेवाला अनेक अपूर्व कथन से बहुत कठिनता है, ऐसा सुनते आये हैं - हम उसमें किस प्रकार प्रवेश कर सकते हैं ?

उत्तर - भय न करो। इस भाषाटीका में गणित आदि का अथ सुगमरूप बनाकर कहा है; अतः प्रवेश पाना कठिन नहीं रहा है। इस शास्त्र में कहीं तो सामान्यकथन है, कहीं विशेष है; कहीं सुगम है, कहीं कठिन है; वहाँ जो सर्व अभ्यास बन सके तो अच्छा ही है और यदि न हो सके, तो अपनी बुद्धि के अनुसार जैसा हो सके, वैसा ही अभ्यास करो, अपने उपाय में आलस नहीं करना नहीं। तूने कहा -जो प्रथामनुयोग सम्बन्धी कथादिक सुनने में पाप से डर कर धर्मानुरागरूप होता है, वह तो वहाँ दोनों कार्य शिथिलता लिए होते हैं। यहाँ पुण्य-पाप के कारण-कार्यादिक विशेष जानने से वे दोनों कार्य

दृढ़ता लिए होते हैं; अतः उनका अभ्यास करना। इस प्रकार प्रथमानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सम्मुख किया।

प्रश्न 13 – अब, चरणानुयोग का पक्षपाती कहता है कि – इस शास्त्र में जीव-कर्म का स्वरूप कहा है, वह तो जैसे है, वैसे ही है, उनको जानने से क्या सिद्धि होती है ? यदि हिंसादिक का त्याग करके, उपवासादि तप किया जाए, व्रत का पालन किया जाए या अरिहन्तादिक की पूजा, नाम, स्मरण आदि भक्ति की जाये या दान दिया जाये या विषय-कषायादिक से उदासीन बने – इत्यादिक जो शुभ कार्य किया जाए, तो आत्महित हो; इसलिए इनका प्ररूपक चरणानुयोग का उपदेशादिक करना।

उत्तर – उसको कहते हैं कि हे स्थूल बुद्धि! तूने व्रतादिक शुभकार्य कहे, वह करनेयोग्य ही हैं, किन्तु **वे सर्व सम्यक्त्व बिना ऐसे हैं, जैसे अंक बिना बिन्दी; और जीवादिक का स्वरूप जाने बिना, सम्यक्त्व का होना ऐसा, जैसे बाँझ का पुत्र;** अतः जीवादिक जानने के अर्थ इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना।

तूने जिस प्रकार व्रतादिक शुभकार्य कहा और उससे पुण्य बन्ध होता है; उसी प्रकार जीवादिक जाननेरूप ज्ञानाभ्यासा है, वह प्रधान शुभकार्य है, इससे सातिशयपुण्य का बन्ध होता है और उन व्रतादिक में भी ज्ञानाभ्यास की ही मुख्यता है – उसे ही कहते हैं।

जो जीव, प्रथम जीवसमासादि जीवों के विशेष जानकर, पश्चात् ज्ञान से हिंसादिक का त्यागी बनकर व्रत को धारण करे, वही व्रती है। जीवादिक के विशेष को जाने बिना, कथंचित् हिंसादिक के त्याग से आपको व्रती माने तो वह व्रती नहीं है; इसलिए व्रतपालन में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।

तप के दो प्रकार हैं – (1) बहिरङ्ग, और (2) अन्तरङ्ग।

जिसके द्वारा शरीर का दमन होवे, वह बहिरङ्गतप है और जिससे मन का दमन होवे, वह अन्तरङ्गतप है। इनमें बहिरङ्गतप से अन्तरङ्गतप उत्कृष्ट है। उपवासादिक तो बहिरङ्गतप है; ज्ञानाभ्यास, अन्तरङ्गतप है। सिद्धान्त में भी छह प्रकार के अन्तरङ्गतपों में चौथा स्वाध्याय नाम का तप कहा है, उससे उत्कृष्ट व्युत्सर्ग और ध्यान ही हैं; इसलिए तप करने में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।

जीवादिक के विशेषरूप गुणस्थानादिक का स्वरूप जानने से ही अरिहन्त आदि का स्वरूप भले प्रकार पहिचाने जाते हैं; अपनी अवस्था पहचानी जाती है; ऐसी पहचान होने पर, जो अन्तरङ्ग में तीव्र भक्ति प्रगट होती है, वही बहुत कार्यकारी है। जो कुलक्रमादिक से भक्ति होती है, वह किंचितमात्र ही फल देती है; इसलिए भक्ति में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।

दान, चार प्रकार का होता है, उनमें आहारदान, औषधदान, अभयदान तो तत्काल क्षुधा के दुःख को या रोग के दुःख को या मरणादिक भय दुःख को दूर करते हैं, और ज्ञानदान, वह अनन्त भवसन्तान से चले आ रहे दुःख को दूर करने में कारण है। तीर्थङ्कर, केवली, आचार्यादिक के भी ज्ञानदान की प्रवृत्ति है, इससे ज्ञानदान उत्कृष्ट है; इसलिए अपने ज्ञानाभ्यास हो तो अपना भला कर लेता है और अन्य जीवों को भी ज्ञानदान देता है।

ज्ञानाभ्यास के बिना, ज्ञानदान कैसे हो सकता है ? इसलिए दोनों में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है। जैसे, जन्म से ही कोई पुरुष, ठगों के घर जाए, वहाँ वह ठगों को अपना मानता है, कदाचित् कोई पुरुष, किसी निमित्त से अपने कुल का और ठगों का यथार्थ ज्ञान करने से ठगों से अन्तरङ्ग में उदासीन हो जाता है। उनको पर जानकर सम्बन्ध छुड़ाना चाहता है; बाहर में जैसा निमित्त है, वैसी प्रवृत्ति करता है;

और कोई पुरुष उन ठगों को अपना ही जानता है, किसी कारण से कोई ठगों से अनुराग करता है और कोई ठगों से लड़कर उदासीन होता है, आहारादिक का त्याग कर देता है। वैसे अनादि से सब जीव संसार में हैं, वहाँ कर्मों को अपना मानते हैं। उनमें कोई जीव किसी निमित्त से जीव और कर्म का यथार्थ ज्ञान करके, कर्मों से उदासीन होकर, उनको पर जानने लगा, उनसे सम्बन्ध छुड़ाना चाहता है। बाहर में जैसा निमित्त है, वैसी प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार ज्ञानाभ्यास के द्वारा उदासीन होता है, वही कार्यकारी है। कोई जीव उन कर्मों को अपना जानता है और किसी कारण से कोई शुभकर्मों से अनुरागरूप प्रवृत्ति करता है, कोई अशुभकर्म को दुःख का कारण जानकर, उदासीन होकर विषयादिक का त्यागी होता है; इस प्रकार ज्ञान के बिना जो उदासीनता होती है, वह पुण्यफल की दाता है; मोक्षकार्य का साधन नहीं है। अतः उदासीनता में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है। उसी प्रकार अन्य भी शुभकार्यों में ज्ञानाभ्यास ही प्रधान जानना। देखो, महामुनि के भी ध्यान-अध्ययन दो ही कार्य मुख्य हैं; इसलिए शास्त्र-अध्ययन द्वारा जीव तथा कर्म का स्वरूप जानकर, स्वरूप का ध्यान करना।

प्रश्न 14 - यहाँ कोई तर्क करे कि कोई जीव, शास्त्र-अध्ययन तो बहुत करता है और विषयादिक का त्यागी नहीं होता तो उसको शास्त्र-अध्ययन कार्यकारी है या नहीं? यदि है, तो महन्त पुरुष क्यों विषयादिक तजें? और नहीं तजें तो ज्ञानाभ्यास की महिमा कहाँ रही?

उत्तर - शास्त्राभ्यासी को दो प्रकार है। (1) लोभार्थी, और (2) आत्मार्थी 1- वहाँ अन्तरङ्ग अनुराग के बिना ख्याति, लाभ, पूजादिक के प्रयोजन से शास्त्राभ्यास करे, वह लोभार्थी है; वह

विषयादिक का त्याग नहीं करता। अथवा ख्याति, पूजा, लाभादिक के अर्थ विषयादिक का त्याग भी करे, फिर भी उसका शास्त्राभ्यास कार्यकारी नहीं है।

2 – जो जीव, अन्तरङ्ग से आत्महित के अर्थ शास्त्राभ्यास करता है, वह धर्मार्थी है। प्रथम तो जैनशास्त्र ही ऐसे हैं कि जो उनका धर्मार्थी होकर अभ्यास करता है, वह विषयादिक का त्याग करता ही है; उसका तो ज्ञानाभ्यास कार्यकारी है।

कदाचित् पूर्व कर्मोदय की प्रबलता से (अर्थात्, कषायशक्ति की प्रबलता होने से) न्यायरूप विषयादिक का त्याग न हो तो भी उसके सम्यग्दर्शन–ज्ञान होने से ज्ञानाभ्यास कार्यकारी होता है। जिस प्रकार असंयत गुणस्थान में विषयादिक के त्याग बिना भी मोक्षमार्गपना होता है।

प्रश्न 15 – जो धर्मार्थी हुआ है, जैनशास्त्र का अभ्यास करता है, उसके विषयादिक का त्याग न हो सके – ऐसा तो नहीं बनता क्योंकि विषयादिक का सेवन, परिणामों से होता है और परिणाम स्वाधीन हैं।

उत्तर – परिणाम दो प्रकार हैं– (1) बुद्धिपूर्वक, और (2) अबुद्धिपूर्वक। अपने अभिप्राय के अनुसार हो, वह बुद्धिपूर्वक और दैव (कर्म) निमित्त से, अपने अभिप्राय से अन्यथा (विरुद्ध) हो, वह अबुद्धिपूर्वक। जैसे, सामायिक करने में धर्मात्मा का अभिप्राय तो ऐसा है कि मैं मेरे परिणाम शुभरूप रखूँ, वहाँ जो शुभपरिणाम ही हों, वह तो बुद्धिपूर्वक और कर्मोदय से (कर्मों के उदय में युक्त होने से) स्वयंमेव अशुभपरिणाम होता है, वह अबुद्धिपूर्वक जानना। (यह दृष्टान्त है) उसी प्रकार धर्मार्थी होकर जो जैनशास्त्रों का अभ्यास करता है, उसका अभिप्राय तो विषयादिक के त्यागरूप वीतरागभाव

की प्राप्ति का ही होता है; वहाँ पर वीतरागभाव हुआ, वह बुद्धिपूर्वक है और चारित्रमोह के उदय से (उदय के वश होने पर) सरागभाव (आंशिकच्युति; पराश्रयरूप परिणाम) होता है, वह अबुद्धिपूर्वक है; अतः स्ववश बिना (परवश) जो सरागभाव होता है, उसके द्वारा उसको विषयादिक की प्रवृत्ति दिख रही है; क्योंकि बाह्यप्रवृत्ति का कारण, परिणाम है।

प्रश्न 16 – यदि इसी प्रकार है तो हम भी विषयादिक का सेवन करेंगे और कहेंगे – हमारे उदयाधीन कार्य होते हैं।

उत्तर – रे मूर्ख! कहने से कुछ तो होता नहीं। सिद्धि तो अभिप्राय के अनुसार है; इसलिए जैनशास्त्रों के अभ्यास द्वारा अपने अभिप्राय को सम्यक्रूप करना। और अन्तरङ्ग में विषयादिक सेवन का अभिप्राय हो तो धर्मार्थी नाम नहीं पाता। इस प्रकार चरणानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

प्रश्न 17 – अब, द्रव्यानुयोग का पक्षपाती कहता है कि इस शास्त्र में जीव के गुणस्थानादिरूप विशेष और कर्म के विशेष (भेद) का वर्णन किया है, किन्तु उनको जानने से तो अनेक विकल्प-तरङ्ग उत्पन्न होते हैं और कुछ सिद्धि नहीं है; इसलिए अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करना व स्व-पर का भेदविज्ञान करना, इतना ही कार्यकारी है, अथवा इनके उपदेशक जो अध्यात्मशास्त्र, उन्हीं का अभ्यास करना योग्य है।

उत्तर – हे सूक्ष्माभास! तूने कहा, वह सत्य है, किन्तु अपनी अवस्था देखना। जो स्वरूपानुभव में व भेदविज्ञान में उपयोग निरन्तर रहता है, तो अन्य विकल्प क्यों करने? वहाँ ही स्वरूपानन्द सुधारस का स्वादी होकर सन्तुष्ट होना, किन्तु निचली अवस्था में वहाँ निरन्तर उपयोग रहता ही नहीं; उपयोग अनेक अवलम्बनों को चाहता है।

अतः जिस काल वहाँ उपयोग न लगे, तब गुणस्थानादि विशेष जानने का अभ्यास करना।

तूने कहा कि अध्यात्मशास्त्र का ही अभ्यास करना, सो योग्य है; किन्तु वहाँ भेदविज्ञान करने के लिए स्व–पर का सामान्यपने स्वरूपनिरूपण है, और विशेषज्ञान के बिना, सामान्य का जानना स्पष्ट नहीं होता; इसलिए जीव और कर्म का विशेष अच्छी तरह जानने से ही स्व–पर का जानना स्पष्ट होता है। उस विशेष जानने के लिए इस शास्त्र का अभ्यास करना। क्योंकि सामान्यशास्त्र से विशेषाशास्त्र बलवान है। वही कहा है – '**सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान भवेत्**'।

प्रश्न 18 – यहाँ कहते हैं कि अध्यात्मशास्त्रों में तो गुणस्थानादि विशेषों (–भेदों) से रहित, शुद्धस्वरूप का अनुभव करना उपादेय कहा है और यह गुणस्थानादि सहित जीव का वर्णन है; इसलिए अध्यात्मशास्त्र और इस शास्त्र में तो विरुद्धता भासित होती है, वह कैसे है ?

उत्तर – नय दो प्रकार के हैं – 1. निश्चयनय, और 2. व्यवहारनय।

निश्चयनय से जीव का स्वरूप, गुणस्थानादि विशेषरहित, अभेद–वस्तुमात्र ही है – और व्यवहारनय से गुणस्थानादि विशेषसहित अनेक प्रकार है। वहाँ जो जीव सर्वोत्कृष्ट, अभेद, एक स्वभाव का अनुभव करता है, उनको तो वहाँ शुद्ध उपदेशरूप जो शुद्ध–निश्चय, वही कार्यकारी है। और जो स्वानुभवदशा को प्राप्त नहीं हुए हैं, तथा स्वानुभवदशा से छूटकर, सविकल्पदशा को प्राप्त है, ऐसा अनुत्कृष्ट जो अशुद्धस्वभाव, उसमें स्थित जीव को व्यवहारनय (उस काल में जाना हुआ – जानने के अर्थ में) प्रयोजवान है। वही अध्यात्मशास्त्र श्री समयसार, गाथा, 12 में कहा है –

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरसीहिं।
व्यवहारदेसिदा पुण जे टु अपरमे ट्ठिदा भावे॥

इस सूत्र के व्याख्यान के अर्थ को विचारकर देखना। सुनो! तुम्हारे परिणाम स्वरूपानुभवदशा में तो वर्तते नहीं, और विकल्प जानकर गुणस्थानादि भेदों का विचार नहीं करोगे तो तुम 'इतो भ्रष्ट, ततो भ्रष्ट' होकर अशुभोपयोग में ही प्रवर्त्तन करोगे, वहाँ तुम्हारा बुरा ही होगा। और सुनो! सामान्यपने से तो वेदान्त आदि शास्त्राभासों में भी जीव का स्वरूप शुद्ध कहते हैं, वहाँ विशेष को जाने बिना, यथार्थ-अयथार्थ का निश्चय कैसे हो?

इसलिए गुणस्थानादि विशेष जानने से शुद्ध-अशुद्ध एवं मिश्र अवस्था का ज्ञान होता है, तब निर्णय करके यथार्थ को अङ्गीकार करो, और सुनो! जीव का गुण, ज्ञान है, सो विशेष जानने से आत्मगुण प्रगट होता है, अपना श्रद्धान भी दृढ़ होता है। जैसे सम्यक्त्व है, वह केवलज्ञान प्राप्त होने पर परमावागाढ़ नाम को प्राप्त होता है; इसलिए विशेष को जानना।

प्रश्न 19 – आपने कहा वह सत्य, किन्तु करणानुयोग द्वारा विशेष जानने से भी द्रव्यलिंङ्गी मुनि, अध्यात्म श्रद्धान बिना, संसारी ही रहते हैं, और अध्यात्म का अनुसरण करनेवाले तिर्यंचादिक को अल्प श्रद्धान से भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, तथा 'तुषमाष भिन्नं' इतना ही श्रद्धान करने से शिवभूति नामक मुनि मुक्त हुए; अतः हमारी बुद्धि से तो विशेष विकल्पों का साधन नहीं होता; प्रयोजनमात्र अध्यात्म का अभ्यास करेंगे।

उत्तर – द्रव्यलिङ्गी जिस प्रकार कारणानुयोग द्वारा विशेष को जानता है; उसी प्रकार अध्यात्मशास्त्रों का ज्ञान भी उसको होता है, किन्तु मिथ्यात्व के उदय से (मिथ्यात्ववश) अयथार्थ साधन करता

है, तो शास्त्र क्या करे? जैनशास्त्रों में तो परस्पर विरोध है नहीं। कैसे? – वह कहते हैं —

करणानुयोग के शास्त्र में भी तथा अध्यात्मशास्त्रों में भी रागादिक भाव, आत्मा के कर्म-निमित्त से उत्पन्न कहे हैं, द्रव्यलिङ्गी उनका स्वयं कर्ता होकर प्रवर्तता है, और शरीर-आश्रित सर्व शुभाशुभ क्रिया, पुद्गलमय कही है, किन्तु द्रव्यलिङ्गी उसे अपनी जानकर उसमें ग्रहण-त्याग की बुद्धि करता है। 'सर्व ही शुभाशुभभाव, आस्रव-बन्ध के कारण' कहे हैं, किन्तु द्रव्यलिङ्गी, शुभक्रिया को संवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण मानता है। शुद्धभाव को संवर -निर्जरा और मोक्ष का कारण कहा है, किन्तु द्रव्यलिङ्गी उसको पहचानता ही नहीं, और शुद्धात्मस्वरूप को मोक्ष कहा है, उसका द्रव्यलिङ्गी को यथार्थ ज्ञान ही नहीं है; इस प्रकार अन्यथा साधन करे तो उसमें शास्त्रों का क्या दोष है? तूमने कहा कि तिर्यंचादिक को सामान्य श्रद्धान से कार्यसिद्धि हो जाती है, तो उनके भी अपने क्षयोपशम के अनुयसार विशेष का जानना होता ही है। अथवा पूर्व पर्यायों में (पूर्व भव में) विशेष का अभ्यास किया था, उसी संस्कार के बल से (विशेष का जानना) होता है। जिस प्रकार किसी ने कहीं पर गढ़ा हुआ धन पाया, तो 'हम भी उसी प्रकार पावेंगे' – ऐसा मानकर सभी को व्यापारादिक का त्याग करना योग्य नहीं है; उसी प्रकार किसी को अल्प श्रद्धान द्वारा ही कार्यसिद्धि हुयी हो तो 'हम भी इस प्रकार ही कार्य की सिद्धि करेंगे' – ऐसा मानकर सब ही को विशेष अभ्यास का त्याग करना उचित नहीं; क्योंकि यह राजमार्ग नहीं है। राजमार्ग तो यही है – जिससे नाना प्रकार के विशेष (भेद) जानकर, तत्त्वों का निर्णय होते ही कार्यसिद्धि होती है। तूने जो कहा कि मेरी बुद्धि से विकल्प साधन नहीं होता, तो जितना हो सके, उतना अभ्यास कर। तू पापकार्य में तो प्रवीण और इस अभ्यास में

कहता है 'मेरी बुद्धि नहीं है' – यह तो पापी का लक्षण है। इस प्रकार द्रव्यानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

अब अन्य विपरीत विचारवालों को समझाते हैं।

प्रश्न 20 – शब्द शास्त्रादि का पक्षपाती कहता है कि – व्याकरण, न्याय, कोश, छन्द, अलंकार, काव्यादिक ग्रन्थों का अभ्यास किया जाए, तो अनेक ग्रन्थों का स्वयंमेव ज्ञान होता है तथा पण्डितपना प्रगट होता है, और इस शास्त्र के अभ्यास से तो एक इसी का ज्ञान हो तथा पण्डितपना विशेष प्रगट नहीं होगा; अतः शब्द-शास्त्रादिक का अभ्यास करना।

उत्तर – यदि तुम लोक में ही पण्डित कहलाना चाहते हो, तो तुम उसी का अभ्यास किया करो, और यदि अपना (हितरूप) कार्य करने की चाह है, तो ऐसे जैनग्रन्थों का ही अभ्यास करनेयोग्य है। जैनी तो जीवादिक तत्त्वों के निरूपण करनेवाले जो जैनग्रन्थ हैं, उन्हीं का अभ्यास होने पर पण्डित मानेंगे।

वह कहता है कि – मैं जैनग्रन्थों के विशेषज्ञान होने के लिए ही व्याकरणादि का अभ्यास करता हूँ। उसको कहते हैं – ऐसे है तो भला ही है, किन्तु इतना है – जिस प्रकार चतुर किसान अपनी शक्ति अनुसार हलादिक द्वारा अल्प-बहुत खेत को सम्हालकर समयसर बीज बोवे तो उसे फल की प्राप्ति होती है; उसी प्रकार तुम भी यदि अपनी शक्ति अनुसार व्याकरणादि के अभ्यास से अल्प-बहुत बुद्धि को सम्हालकर, जितने काल मनुष्यपर्याय तथा इन्द्रियों को प्रबलता इत्यादिक प्रवर्तते हैं, उतने समय में तत्त्वज्ञान के कारण जो शास्त्र, उनका अभ्यास करोगे तो तुम्हें सम्यक्त्वादि की प्राप्ति होगी।

जैसे, अन्जान किसान, हलादिक से खेत को संवारता-संवारता ही समय को बितावेगा, तो उसको फल-प्राप्ति होनेवाली नहीं; वृथा

ही खेदखिन्न होगा; उसी प्रकार तू भी यदि व्याकरणादिक द्वारा बुद्धि को संवारता-संवारता ही समय बितावेगा, तो सम्यक्त्वादि की प्राप्ति होनेवानी नहीं, वृथा ही खेदखिन्न होगा।

इस काल में आयु, बुद्धि आदि अल्प हैं; इसलिए प्रयोजनमात्र अभ्यास करना; शास्त्रों का तो पार है नहीं।

सुन! कुछ जीव व्याकरणादिक के बिना भी तत्त्वोपदेशरूप भाषा शास्त्रों के द्वारा तथा उपदेश सुनकर, सीखने से भी तत्त्वज्ञानी होते देखे जाते हैं और कई जीव केवल व्याकरणादिक के ही अभ्यास में जन्म गँवाते हैं और तत्त्वज्ञानी नहीं होते हैं- ऐसा भी देखा जाता है। सुन! व्याकरणादिक का अभ्यास करने से पुण्य नहीं होता, किन्तु धर्मार्थी होकर उनका अभ्यास करे, तो किंचित् पुण्य होता है; तथा तत्त्वोपदेशक शास्त्रों के अभ्यास से सातिशय महत् पुण्य उत्पन्न होता है; इसलिए भला तो यह है कि ऐसे तत्त्वोपदेशक शास्त्रों का अभ्यास करना। इस प्रकार शब्दशास्त्रादिक के पक्षपाती को इस शास्त्र के सन्मुख किया।

प्रश्न 21 - अब, अर्थ का पक्षपाती कहता है कि - इस शास्त्र का अभ्यास करने से क्या है, सर्व कार्य धन से बनते हैं। धन से ही प्रभावना आदि धर्म होता है, धनवान के निकट अनेक पण्डित आकर रहते हैं, अन्य भी सर्व कार्यों की सिद्धि होती है; अतः धन पैदा करने का उद्यम करना।

उत्तर - रे पापी! धन कुछ अपना उत्पन्न किया तो नहीं होता; भाग्य से होता है - इस ग्रन्थाभ्यास आदि धर्मसाधन से पुण्य की उत्पत्ति होती है, उसी का नाम भाग्य है। यदि धन होता है, तो शास्त्राभ्यास करने से कैसे नहीं होगा? अगर नहीं होना है, तो शास्त्राभ्यास नहीं करने से कैसे होगा? इसलिए धन का होना, न होना तो उदयाधीन है; शास्त्राभ्यास में क्यों शिथिल होता है? और

सुन! धन है, वह तो विनाशीक है, भय संयुक्त है, पाप से उत्पन्न होता है, नरकादिक का कारण है; और जो यह शास्त्राभ्यासरूप ज्ञानधन है, वह अविनाशी है, भयरहित है, धर्मरूप है, स्वर्ग-मोक्ष का कारण है; अतः महन्त पुरुष तो धनादिक को छोड़कर, शास्त्राभ्यास में ही लगते हैं और तू पापी, शास्त्राभ्यास को छुड़ाकर, धन पैदा करने की बड़ाई करता है, तो तू अनन्त संसारी है।

तूने कहा कि प्रभावनादि, धर्म की धन से ही होते हैं। किन्तु वह प्रभावनादि धर्म तो किंचित् सावद्यक्रिया संयुक्त है; इसलिए समस्त सावद्यरहित शास्त्राभ्यासरूप धर्म है, वह प्रधान है। यदि ऐसा न हो तो गृहस्थ अवस्था में प्रभावनादि धर्म साधन थे, उनको छोड़कर संयमी होकर शास्त्राभ्यास में किसलिए लगते हैं? शास्त्राभ्यास करने से प्रभावनादिक भी विशेष होती है।

तूने कहा कि - धनवान के निकट पण्डित भी आकर के रहते हैं! सो लोभी पण्डित हो और अविवेकी धनवान हो, वहाँ ऐसा होता है। शास्त्राभ्यासवालों की तो इन्द्रादिक भी सेवा करते हैं, यहाँ भी बड़े-बड़े महन्त पुरुष, दास होते देखे जाते हैं; इसलिए शास्त्राभ्यास-वालों से धनवानों को महन्त न जान।

तूने कहा कि धन से सर्व-कार्यसिद्धि होती है, (किन्तु ऐसा नहीं है।) उस धन से तो इस लोकसम्बन्धी कुछ विषयादिक कार्य इस प्रकार के सिद्ध होते हैं, जिससे बहुत काल तक नरकादिक दुःख सहन करने पड़ते हैं और शास्त्राभ्यास से ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं कि जिससे इसलोक-परलोक में अनेक सुखों की परम्परा प्राप्त होती हैं; इसलिए धन पैदा करने के विकल्प को छोड़कर शास्त्राभ्यास करना; और यदि ऐसा सर्वथा न बने तो संतोषपूर्वक धन पैदा करने का साधन करके शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना। इस प्रकार धन पैदा करने के पक्षपाती को शास्त्राभ्यास सन्मुख किया।

प्रश्न 22 – अब, काम-भोगादिक का पक्षपाती कहता है कि शास्त्राभ्यास करने में सुख नहीं है, बड़प्पन नहीं है; इसलिए जिनके द्वारा यहाँ ही सुख हो -ऐसे जो स्त्रीसेवन, खाना-पहिनना इत्यादिक विषय-सुख, उनका सेवन किया जाए अथवा जिसके द्वारा यहाँ ही बड़प्पन हो – ऐसे विवाहादिक कार्य किए जाएँ।

उत्तर – विषयजनित जो सुख है, वह दुःख ही है क्योंकि विषय – सुख तो पर-निमित्त से होता है। पूर्व-पश्चात् और तत्काल ही आकुलतासहित है और जिसके नाश होने के अनेक कारण मिलते ही हैं; आगामी नरकादि दुर्गति को प्राप्त करानेवाला है – ऐसा होने पर भी, वह तेरी चाह अनुसार मिलता ही नहीं; पूर्व पुण्य से होता है; इसलिए विषम है।

जैसे, खाज से पीड़ित पुरुष अपने अङ्ग को कठोर वस्तु से खुजाते हैं; वैसे ही इन्द्रियों से पीड़ित जीव उनको पीड़ा सही न जाये, तब किंचितमात्र जिनमें पीड़ा का प्रतिकार-सा भासे -ऐसे जो विषयसुख मैं झंझापात करते हैं। वह परमार्थरूप सुख है ही नहीं।

शास्त्राभ्यास करने से जो सम्यग्ज्ञान उत्पन्न हुआ, उससे उत्पन्न आनन्द, वह सच्चा सुख है। वह सुख स्वाधीन है, आकुलतारहित है, किसी के द्वारा नष्ट नहीं होता; मोक्ष का कारण है, विषम नहीं है।

जिस प्रकार खाज की पीड़ा नहीं होती तो सहज ही सुखी होता, उसी प्रकार वहाँ इन्द्रियों पीड़ने के लिए समर्थ नहीं होती, तब सहज ही सुख को प्राप्त होता है; इसलिए विषय सुख को छोड़कर शास्त्राभ्यास करना। यदि सर्वथा न छूटे तो जितना हो सके, उतना छोड़कर शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना।

तूने विवाहादिक कार्य में होना कही, वह बढ़ाई कितने दिन रहेगी। बड़ाई जिसके लिए महापापारम्भ से नरकादि में बहुत काल

दु:ख भोगना होगा; अथवा तुझसे भी, उन कार्यों में धन लगानेवाले बहुत हैं, अत: विशेष बड़ाई भी होनेवाली नहीं है; और शास्त्राभ्यास से तो ऐसी बड़ाई होती है कि जिनकी सर्व जन महिमा करते हैं; इन्द्रादिक भी प्रशंसा करते हैं, और परम्परा भी स्वर्ग–मुक्ति का कारण है। इसलिए विवाहादिक कार्यों का विकल्प छोड़कर, शास्त्राभ्यास का उद्यम रखना। सर्वथा न छूटे तो बहुत विकल्प न करना। इस प्रकार काम–भोगादिक के पक्षपाती को शास्त्राभ्यास में सन्मुख किया।

इस प्रकार अन्य भी जो विपरीत विचार से इस ग्रन्थ के अभ्यास में अरुचि प्रगट करते हैं, उनको यथार्थ विचार से इस शास्त्र अभ्यास में सन्मुख होना योग्य है।

प्रश्न 23 – यहाँ अन्यमती कहते हैं कि तुमने अपने ही शास्त्र के अभ्यास करने को दृढ़ किया, हमारे मत में नाना युक्ति आदि सहित शास्त्र हैं, उनका भी अभ्यास क्यों न कराया जाए?

उत्तर – तुम्हारे मत के शास्त्रों में आत्महित का उपदेश नहीं है। कहीं शृंगार का, कहीं युद्ध का, कहीं कामसेवन आदि का, कहीं हिंसादिक का कथन है; और यह तो बिना ही उपदेश सहज ही हो रहा है; अत: इनको तजने से हित होता है। अन्यमत तो उलटा उनका पोषण करता है; इसलिए उससे हित कैसे होगा?

प्रश्न 24 – वहाँ वह कहते हैं कि ईश्वर ने ऐसी लीला की है, उसको गाते हैं, तो उससे भला होता है।

उत्तर – वहाँ कहते हैं कि यदि ईश्वर को सहजसुख न होगा, तब संसारीवत् लीला से सुखी हुआ। यदि वह सहजसुखी होता तो किसलिए विषयादि सेवन या युद्धादि करता? क्योंकि मन्दबुद्धि भी बिना प्रयोजन किंचितमात्र भी कार्य नहीं करते; इसलिए जाना जाता है कि वह ईश्वर हम जैसा ही है। उसका यश गाने से क्या सिद्धि होगी?

प्रश्न 25 – वह फिर कहता है कि हमारे शास्त्रों में त्याग, वैराग्य, अहिंसादिक का भी तो उपदेश है।

उत्तर – वह उपदेश पूर्वापर विरोधसहित है; कहीं विषय पोषते हैं, कहीं निषेध करते हैं; वैराग्य दिखाकर, पश्चात् हिंसादिक का करना पुष्ट किया है, वहाँ वातुलवचनवत् प्रमाण कैसे हो?

प्रश्न 26 – वह कहते हैं कि वेदान्त आदि शास्त्रों में तो तत्त्व का निरूपण है।

उत्तर – उनको कहते हैं – नहीं; वह निरूपण प्रमाण से बाधित है, अयथार्थ है, उसका निराकरण जैन के न्यायशास्त्रों में किया है, सो जानना। इसलिए अन्यमत के शास्त्रों का अभ्यास न करना।

उनको कहते हैं.......

हे भव्य जीवों! शास्त्राभ्यास के अनेक अङ्ग हैं। शब्द या अर्थ का वाँचन या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारम्बार चर्चा करना इत्यादि अनेक अङ्ग हैं – वहाँ जैसे बने तैसे अभ्यास करना। यदि सर्व शास्त्र का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम या दुर्गम अनेक अर्थों का निरूपण है, वहाँ जिसका बने, उसका अभ्यास करना। परन्तु अभ्यास में आलसी न होना।

देखो! शास्त्राभ्यास की महिमा, जिसके होने पर परम्परा आत्मानुभवदशा को प्राप्त होता है, मोक्षमार्गरूप फल को प्राप्त होता है – यह तो दूर ही रहो; तत्काल ही इतने गुण प्रगट होते हैं,

1– क्रोधादि कषायों की तो मन्दता होती है;

2– पञ्चेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है;

3– अति चंचल मन भी एकाग्र होता है;

4- हिंसादि पाँच पाप नहीं होते;

5- स्तोक (अल्प)ज्ञान होने पर भी, त्रिलोक के तीन काल सम्बन्धी चराचर पदार्थों का जानना होता है;

6- हेय-उपादेय की पहिचान होती है;

7- आत्मज्ञान सन्मुख होता है। (ज्ञान, आत्मसन्मुख होता है।)

8- अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है,

9- लोक में महिमा यश विशेष होता है;

10- अतिशय पुण्य का बन्ध होता है;

इत्यादिक गुण, शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही उत्पन्न होते हैं; इसलिए शास्त्राभ्यास अवश्य करना।

प्रश्न 26 - हे भव्य! शास्त्राभ्यास करने के समय की प्राप्ति महादुर्लभ है। कैसे?

उत्तर - एकेन्द्रियादि असंज्ञीपर्यंत जीवों को तो मन नहीं, और नारकी, वेदना से पीड़ित; तिर्यंच, विवेकरहित; देव, विषयासक्त; इसलिए मनुष्यों को अनेक सामग्री मिलने पर शास्त्राभ्यास होता है। सो मनुष्यपर्याय की प्राप्ति ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से महादुर्लभ है।

वहाँ द्रव्य अपेक्षा से तो लोक में मनुष्यजीव बहुत अल्प हैं, तुच्छ संख्यातमात्र ही हैं; और अन्य जीवों में निगोदिया अनन्त हैं, दूसरे जीव असंख्यात हैं।

क्षेत्र अपेक्षा से मनुष्यों का क्षेत्र बहुत स्तोक (थोड़ा ही) अढ़ाई द्वीपमात्र ही है और अन्य जीवों में एकेन्द्रियों का क्षेत्र सर्व लोक है, दूसरों का कितनेक राजू प्रमाण है।

काल अपेक्षा से मनुष्यपर्याय में उत्कृष्ट रहने का काल स्तोक है,

कर्मभूमि – अपेक्षा पृथक्त्व कोटिपूर्व मात्र है और अन्य पर्यायों में उत्कृष्ट रहने का काल एकेन्द्रिय में तो जसंख्यात पुद्गलपरावर्तनमात्र और अन्यों में संख्यात पल्यमात्र है।

भाव–अपेक्षा तीव्र शुभाशुभपने से रहित, ऐसे मनुष्यपर्याय के कारणरूप परिणाम होने अति दुर्लभ हैं; अन्य पर्याय के कारण अशुभरूप वा शुभरूप परिणाम होने सुलभ हैं।

इस प्रकार शास्त्राभ्यास का कारण जो पर्याय कर्मभूमि या मनुष्यपर्याय, उसका दुर्लभपना जानना। वहाँ उत्तम निवास, उच्चकुल, पूर्ण आयु इन्द्रियों की सामर्थ्य, नीरोगपना, सुसंगति, धर्मरूप अभिप्राय, बुद्धि की प्रबलता इत्यादि की प्राप्ति होना उत्तरोत्तर महादुर्लभ है – यह प्रत्यक्ष दीख रहा है; और उतनी सामग्री मिले बिना ग्रन्थाभ्यास बनता नहीं, सो तुमने भाग्य से अवसर पाया है; इसलिए तुमको हठ से भी तुम्हारे हित के लिए प्रेरणा करते हैं। जैसे हो सके, वैसे इस शास्त्र का अभ्यास करो; अन्य जीवों को जैसे बने, वैसे शास्त्राभ्यास कराओ। जो जीव, शास्त्राभ्यास करते हैं, उनकी अनुमोदना करो। पुस्तक लिखवाना, व पढ़ने–पढ़ानेवालों की स्थिरता करनी इत्यादि शास्त्राभ्यास के बाह्य कारण, उनका साधन करना, क्योंकि उनके द्वारा भी परम्परा कार्यसिद्धि होती है तथा महत् पुण्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार इस शास्त्र के अभ्यासादि में जीवों को रुचिवान किया।

————

6

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का महत्वपूर्ण प्रवचन

अज्ञानी के अभिप्राय में व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष और उसके अभाव का उपाय

इस जगत में अनन्त प्राणियों को, अनादिकाल से अपने निश्चयस्वभाव की महिमा का ज्ञान न होने से राग और विकल्प का सूक्ष्म पक्ष रह जाता है। यहाँ व्यवहार के उस सूक्ष्म पक्ष का स्वरूप बताया जा रहा है, जिसको छोड़कर परमार्थ के आश्रय से धर्म की साधना हो सकती है।

जीव को परवस्तु, विकल्प तथा आत्मा का स्वभाव भी श्रवण में आता है, उसके ख्याल में यह आता है कि आत्मवस्तु, राग अथवा परवस्तु जैसी नहीं है, यह ख्याल में आने पर भी यदि राग में आत्मा का वीर्य / बल रुक जाए तो व्यवहार का पक्ष रह जाता है। यदि आत्मा के वीर्य को पर की ओर के झुकाव से पृथक् करके, स्वभाव के ज्ञान से वीर्य को शुभभाव में भी न लगाकर, शुभ से भी भिन्न आत्मस्वभाव की ओर प्रवृत्त करे तो समझना चाहिए कि जीव ने निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध किया है और उसे ही धर्मसाधना अर्थात् सम्यक्त्वादि हैं।

आत्मा, वर्तमान में ही ज्ञानादि अनन्त स्वभाव / गुण का पिण्ड है, उसकी अवस्था में जो वर्तमान अशुभ अवस्था होती है, उसे

छोड़ने को जीव का मन होता है क्योंकि अशुभ से शुभ में वीर्य को युक्त करना, वह स्थूल कार्य है। नग्न दिगम्बर जैन साधु होकर पञ्च महाव्रत का शुभराग तथा देव-गुरु-शास्त्र की परलक्ष्यी श्रद्धा करके, उनकी कही हुई बात स्थूलरूप से ध्यान में लाने पर भी, जीव के सूक्ष्मरूप में व्यवहार की पकड़ रह गयी है, इसलिए उसे सम्यक्त्व नहीं हुआ है।

ज्ञान में शुभ और अशुभ दोनों को ही लक्ष्य में लेकर, जीव अपने भाव को अशुभ में से शुभ में बदल देता है, परन्तु यदि शुभराग से भी पार निज स्वभाव की ओर ढले तो व्यवहार का पक्ष छूट जाए और सम्यक्त्व हो जाए। (परन्तु यह कार्य नहीं करता।)

'राग मेरा स्वरूप नहीं है' - यह विकल्प भी राग है। मैं जीव हूँ, विकार मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार नव तत्त्वादिक के विकल्प में वीर्य का बल रुका रहे परन्तु स्वभाव में झुकने के लिए वीर्य की उन्मुखता काम न करे तो कहना होगा कि वह व्यवहार की रुचि में अटक रहा है; उसका झुकाव निश्चयस्वभाव की ओर नहीं है। जिस वीर्य का झुकाव निश्चयस्वभाव की ओर ढलता है, उस वीर्य में व्यवहार का पक्ष अवश्य छूट जाता है; इसलिए अनन्त तीर्थङ्करों ने निश्चय के द्वारा व्यवहार का निषेध किया है।

स्वभावदृष्टि के बिना मिथ्यादृष्टि जीव यदि बहुत करे तो अशुभभाव को छोड़कर शुभभाव तक आता है और शुभभाव में ही उसके ज्ञान का लक्ष्य स्थिर हुआ है; वहाँ से हटकर त्रिकाली स्वभाव पर ज्ञान का लक्ष्य स्थिर नहीं करता; इस प्रकार जब तक स्वभाव की ओर वीर्य का बल न हो, तब तक निश्चय का आश्रय नहीं होता और निश्चय के आश्रय के बिना व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता।

व्यवहार का आश्रय तो, जिसकी कभी मुक्ति होनेवाली नहीं है

– ऐसा अभव्य जीव भी करता है। तात्पर्य यह है कि निश्चय के आश्रय से ही मुक्ति होती है; अतः निश्चयनय से व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र क्या कहते हैं? इसका विचार ज्ञान में आता है, तथा पञ्च महाव्रतादिक के विकल्परूप जो व्यवहार है, उसे भी ज्ञान जानता है, किन्तु जब तक उस रागरूप व्यवहार से निश्चयस्वभाव की अधिकता (पृथक्त्व) दृष्टि में नहीं आती, तब तक निश्चयस्वभाव में वीर्य का बल स्थिर नहीं होता और निश्चयस्वभाव के आश्रय बिना निश्चयसम्यक्त्व नहीं होता। निश्चयसम्यक्त्व के बिना व्यवहार का निषेध नहीं होता। इस प्रकार जीव को व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष रह जाता है।

'राग प्रत्येक अवस्था में बदलता जाता है और उस विकार के पीछे निर्विकार स्वभाव को धारण करनेवाला द्रव्य ध्रुव है,' इस प्रकार विकल्प के द्वारा जीव ध्यान में लेता है, किन्तु जब तक त्रैकालिक स्वभाव में वीर्य को लगाकर, अरागी निश्चयस्वभाव का बल नहीं आता, तब तक व्यवहार का निषेध नहीं होता और व्यवहार के निषेध के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अज्ञानी को व्यवहार के पक्ष का सूक्ष्म अभिप्राय रह जाता है, वह केवलीगम्य है; वह छद्मस्थ को दृष्टिगोचर नहीं होता। वह अभिप्राय कैसे रह जाता है? – इस सम्बन्ध में यहाँ कथन चल रहा है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी, एक, शान्तस्वरूपी है – ऐसा विकल्प में लेकर भी, जब तक स्वभाव सन्मुख होकर अनुभव न करे, तब तक सम्यक्त्व नहीं होता। अन्तरङ्ग में यह बात जम जाए कि बहिर्मुख भाव, मैं नहीं हूँ, तो उसका वीर्य विकार से अलग होकर निश्चय-स्वभाव में ढल जाता है और निश्चयस्वभाव में वीर्य ढलते ही व्यवहार का निषेध हो जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शनादि हो जाते हैं।

अभव्य जीवों को तथा मिथ्यादृष्टि भव्य जीवों को स्वभाव का ख्याल आने पर भी स्वभाव की महिमा नहीं आती। ख्याल में आता है, इसका अर्थ यहाँ पर सम्यग्ज्ञान में आने की बात नहीं है किन्तु ज्ञानावरण के क्षयोपशम की प्रगटता में इस बात का ध्यान आता है। ग्यारह अङ्ग के ज्ञान में सब बात आ जाती है कि आत्मा का स्वभाव त्रिकाल है, राग क्षणिक है किन्तु अज्ञानी की रुचि का बल शुभ की ओर से नहीं हटता। बहुत गम्भीर स्वभाव की माहात्म्यदशा में बल को लगाना चाहिए, वह यह नहीं करता; इसलिए उसे व्यवहार का पक्ष रह जाता है।

यहाँ पर अभव्य की बात तो मात्र दृष्टान्त के रूप में कही है किन्तु सभी मिथ्यादृष्टि जीव कहीं न कहीं व्यवहार के पक्ष में अटक रहे हैं; इसीलिए उन्हें निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं होता। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानकर, वे क्या कहते हैं - यह ध्यान में भी लिया, बाह्य में साधु भी हुआ, किन्तु रुचि को विकार से हटाकर त्रिकाली -स्वभाव की ओर नहीं लगाता। वर्तमान पर्याय को विकार से हटाकर त्रैकालिक स्वभाव की ओर लगाये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता; इसलिए सर्वज्ञ भगवान ने सदा निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध किया है।

जीव को शुभरागरूप व्यवहार का पक्ष है, उसकी जगह यदि त्रैकालिक स्वभाव की ओर वीर्य का बल लगाया जाए अर्थात् निश्चय का आश्रय करे तो सम्यक्त्वादि धर्म होता है।

शुभराग की प्रवृत्ति पर सम्यग्दर्शन अवलम्बित नहीं है किन्तु वह निश्चयस्वभाव के आश्रित है। यदि जीव, अपने स्वभाव की ओर रुचि नहीं लगाता तो उसके व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता और सम्यग्दर्शन नहीं होता क्योंकि सम्यग्दर्शन अन्तरङ्ग स्वभाव की वस्तु है।

त्रैकालिक और वर्तमान इन दोनों पहलुओं के ध्यान में आने पर

भी जीव त्रैकालिक स्वभाव की रुचि की ओर नहीं झुकता, किन्तु वर्तमान पर्याय की रुचि की ओर उन्मुख होता है। 'यह स्वभाव है, यह स्वभाव है' इस प्रकार यदि रुचि स्वभाव की ओर झुके तो क्षणिक पर्याय की दृष्टि का अभाव हो जाए, किन्तु त्रिकाली स्वभाव की रुचि में लेने के बदले वर्तमान शुभराग को ही देखता है; इसलिए त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव में वीर्य का झुकाव नहीं होता अर्थात् निश्चय का आश्रय नहीं होता और व्यवहार पक्ष नहीं छूटता — यही मिथ्यात्व है।

आत्मा के वर्तमान वीर्य को वर्तमान के ही लक्ष्य पर (अवस्था-दृष्टि में) स्थिर करे और त्रैकालिक अन्तरङ्ग स्वभाव की ओर वीर्य को प्रेरित नहीं करे तो विकल्प का अभाव नहीं होता और सम्यग्दर्शन नहीं होता।

प्रत्येक जीव के वर्तमान अवस्था में वीर्य का कार्य तो होता ही रहता है, किन्तु उस वीर्य को कहाँ स्थापित करना चाहिए — यह भान नहीं होने से जीव के व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता। 'मैं एक ज्ञायकभाव हूँ, मैं वर्तमान राग जितना ही नहीं हूँ, किन्तु राग से अधिक त्रिकाल शक्ति का पिण्ड हूँ' इस प्रकार अपने निश्चयस्वभाव की रुचि के बल में वीर्य को स्थापित करना चाहिए - एकाग्र करना चाहिए। यदि निश्चयस्वभाव की ओर के बल में और रुचि में वीर्य को न जोड़े तो वह वीर्य व्यवहार के पक्ष में जुड़ जाता है और उसके व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष रहता है।

जब व्यवहार के पक्ष से हटकर वीर्य को ज्ञायकस्वभाव में स्थापित किया जाता है, तब भी व्यवहार का ज्ञान तो (गौणरूप में) रहता ही है, कहीं ज्ञान छूट नहीं जाता, क्योंकि वह तो सम्यग्ज्ञान का अंश है। व्यवहार का ज्ञान छूटकर निश्चय की दृष्टि नहीं होती। सम्यग्दर्शन होने पर व्यवहार का ज्ञान तो रहता है, किन्तु उसका

आश्रय छूटकर स्वभाव की ओर झुकाव हो जाता है। इस प्रकार निश्चय के आश्रय के समय व्यवहार का पक्ष छूट जाने पर भी ज्ञान तो दोनों का ही रहता है, किन्तु जब ज्ञान सर्वथा व्यवहार की ओर ढलता है, तब निश्चयनय का आश्रय किञ्चित्मात्र भी न होने से वह व्यवहार का पक्षवाला ज्ञान मिथ्यारूप एकान्त है।

सम्यग्दर्शन होने के बाद निश्चय का आश्रय होने पर भी, जब तक अपूर्ण भूमिका है, तब तक व्यवहार रहता है, किन्तु निश्चयनयाश्रित जीव को उस ओर आसक्ति नहीं होती, उसके वीर्य का बल व्यवहार की ओर नहीं ढलता।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान, नव तत्त्व का ज्ञान, ब्रह्मचर्य का पालन तथा जिन-पूजा, व्रत, तप और भक्ति इत्यादि करने पर भी जीव के मिथ्यात्व क्यों रह जाता है? क्योंकि 'यह वर्तमान शुभ परिणाम ही मैं हूँ और इसी से मुझे लाभ है', इस प्रकार वर्तमान राग पर ही लक्ष्य को स्थिर करके उसमें अटक रहा है और त्रैकालिक एकरूप निरपेक्ष स्वभाव की ओर नहीं ढलता; इसीलिए मिथ्यात्व रह जाता है।

यदि जीव वर्तमान राग का लक्ष्य छोड़कर, त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को लक्ष्य में ले तो सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन का आधार (आश्रयभूतवस्तु) त्रैकालिक स्वभाव है, वर्तमान पर्याय के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता।

निश्चय-अखण्ड अभेद स्वभाव की ओर जाते हुए बीच में जो विकल्पादिरूप व्यवहार आता है, उसके लिये खेद (अर्थात् हेयबुद्धि) होना चाहिए — ऐसा न करके जो उसके प्रति उत्साहित होता है, उसे स्वभाव के प्रति आदर नहीं रहता अर्थात् वह मिथ्यात्वी ही रहता है। निश्चयस्वभाव की ओर के वीर्य का उल्लास होने के

बदले व्यवहार में जिसका वीर्य उल्लसित होता है, उसका भाव परावलम्बी रहता है; इसलिए उसके व्यवहार का पक्ष दूर नहीं होता। व्यवहार की रुचिवाला वह जीव, भगवान की दिव्यध्वनि का उपदेश सुनकर भी व्यवहार की रुचि को ही पुष्ट करता है। निश्चय के आश्रय का उल्लास न होने से व्यवहार की रुचि करता है कि 'व्यवहार तो बीच में आयेगा ही।' इस प्रकार मिथ्यदृष्टि के व्यवहार की गहरी, सूक्ष्म मिठास विद्यमान रहती है; इसलिए वह अपने स्वभाव में उल्लसित होकर सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

प्रश्न — व्यवहार का निषेध करने से एकान्त निश्चय नहीं हो जाएगा क्या?

उत्तर — नहीं, इसी में सच्चा अनेकान्त है। निश्चयस्वभाव और राग - दोनों को जानकर, जब वीर्य के बल को निश्चयस्वभाव में लाता है, तब ज्ञान में गौणरूप से यह ध्यान तो होता ही है कि अवस्था में विकार भी है। स्वभाव की ओर ढलनेवाला जीव, पर्याय की अपेक्षा से अपने को केवलज्ञानी नहीं मानता। इस प्रकार उसने ज्ञान में निश्चय और व्यवहार दोनों को जानकर, निश्चय का आश्रय और व्यवहार का निषेध किया है और यही अनेकान्त है। दोनों पक्षों को जानकर एक में आरूढ़ और दूसरे में अनारूढ़ हुआ अर्थात् निश्चय को ग्रहण किया और व्यवहार को छोड़ा, बस यही अनेकान्त है, किन्तु निश्चय और व्यवहार दोनों को आश्रय करने योग्य मानना तो एकान्त है।

दो नय परस्पर विरोधरूप हैं, इसलिए दोनों का आश्रय नहीं हो सकता। जब जीव निश्चय का आश्रय करता है, तब उसके व्यवहार का आश्रय छूट जाता है और जब व्यवहार के आश्रय में अटक जाता है, तब उसके निश्चय का आश्रय नहीं होता — ऐसा होने पर भी जो दोनों नयों को आश्रय करने योग्य मानते हैं, वे दोनों नयों को एकमेक मानने के कारण एकान्तवादी हैं।

राग तो सम्यग्दर्शन में सहायता नहीं करता, किन्तु 'राग मुझे सहायता नहीं करता' ऐसा विकल्प भी सहायता नहीं करता। जब जीव, राग से मुक्त होकर स्वभाव की ओर ढलता है, तब मुख्य स्वभाव की (निश्चय की) दृष्टि होती है और अवस्था गौण होती है। इस प्रकार निश्चय को मुख्य और व्यवहार को गौण करने से ही अनेकान्त का फल आता है।

जिसे व्यवहार का पक्ष है, वह जीव एकान्त व्यवहार की ओर ढल जाता है; इसलिए वह निश्चयस्वभाव का तिरस्कार करता है। मात्र वर्तमान की अर्थात् पर्याय की ओर की उन्मुखता में इतना अधिक बल नहीं है कि वह विकल्प को तोड़कर स्वभाव का दर्शन करा दे। यदि दृष्टि में निश्चयस्वभाव पर वजन नहीं दे तो व्यवहार को गौण करके स्वभाव की ओर नहीं झुक सकता और सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। यदि जीव, वर्तमान में होनेवाले विकारभाव की दृष्टि छोड़कर स्वभाव की ओर बल को लगाये तो अवस्था में स्वभावरूप कार्य होता है। जब ज्ञान और वीर्य, स्वभाव की ओर ढलते हैं, तब उसमें निश्चय की मुख्यता हुई और रागादि विकल्प को जानकर भी उसे मुख्य नहीं किया; यही व्यवहारनय का निषेध है। वहाँ भी व्यवहार का ज्ञान है किन्तु आदर नहीं है।

ज्ञान और वीर्य के बल से स्वभाव की जो मुख्यता होती है, उस मुख्यता का बल वीतरागता और केवलज्ञान होने तक बना रहता है; बीच में भले ही व्यवहार आये, किन्तु कभी भी उसकी मुख्यता नहीं होती। छठवें गुणस्थान तक राग रहेगा, तथापि दृष्टि में कभी भी राग की मुख्यता नहीं होगी। त्रैकालिक स्वभाव ही मुख्य है अर्थात् दृष्टि के बल से वह निश्चयस्वभाव की ओर ढलते-ढलते और रागरूप व्यवहार को तोड़ते-तोड़ते सम्पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान हो

जाएगा। केवलज्ञान होने के बाद सम्पूर्ण नयपक्ष का ज्ञाता होने से और राग न होने से वहाँ न कोई मुख्य रहता है और न गौण; और न कोई विकल्प ही रहता है। वहाँ तो साध्य की सिद्धि हो चुकी है।

नव तत्त्वों की व्यवहारश्रद्धा और ग्यारह अङ्ग का ज्ञान होने पर भी जीव को सम्यग्दर्शन क्यों नहीं हुआ? त्रैकालिक और वर्तमान इन दोनों को लक्ष्य में तो लिया किन्तु त्रैकालिक स्वभाव की ओर झुका नहीं; अतः सम्यक्त्व नहीं हुआ। त्रैकालिक स्वभाव की ओर उन्मुख होनेवाला प्रथम दोनों का विचार करके स्वभावसन्मुख होता है। जो स्वभाव की दृढ़ता प्राप्त कर लेता है, वह व्यवहार को फीका कर देता है। यद्यपि अभी व्यवहार का सर्वथा अभाव नहीं हुआ, किन्तु जैसे-जैसे स्वभाव की ओर ढलता जाता है, वैसे-वैसे व्यवहार का अभाव होता जाता है।

वस्तु को मात्र धारणा में लेने से ही सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता, किन्तु ज्ञान को स्वभाव की ओर ले जाने की आवश्यकता है। यहाँ ज्ञान और श्रद्धा दोनों के बल को स्वभावसन्मुख करने की बात है। शुभराग से मेरा स्वभाव भिन्न है, इस प्रकार का जो ज्ञान है, उस ओर वीर्य को ढालते ही तत्काल सम्यग्दर्शन हो जाता है। यदि स्वभाव की रुचि करे तो वीर्य भी स्वभाव की ओर ढले, किन्तु जिसके राग की पुष्टि और रुचिभाव है, उसका व्यवहार की ओर का झुकाव दूर नहीं होता। जहाँ तक मान्यता और रुचि के वीर्य में निरपेक्षस्वभाव नहीं रुचता और राग रुचता है, वहाँ तक मिथ्यात्व है।

जीव अशुभभाव को दूर करके शुभभाव तो करता है; परन्तु वह शुभभाव में धर्म मानता है, यह स्थूल मिथ्यात्व है। जीव अशुभभाव को दूर करके शुभभाव करता है और शास्त्रादि के ज्ञान से यह भी समझता है कि शुभराग से धर्म नहीं होता, तथापि चैतन्यस्वभाव की

ओर का वीर्य न होने से उसके मिथ्यात्व रह जाता है। चैतन्यस्वभाव की ओर के बल से वर्तमान की ओर से हटना ही दर्शनविशुद्धि है। यहाँ ज्ञान का परलक्ष्यी क्षयोपशम अथवा कषाय की मन्दता पर वजन नहीं है किन्तु दर्शनविशुद्धि पर ही सम्पूर्ण वजन है।

जिस प्रकार किसी से सलाह पूछी और उसके कथन को ध्यान में भी रखा, परन्तु उसके अनुसार परिणमन नहीं किया; इसी प्रकार शास्त्र के कथन से यह तो जान लिया कि निश्चय के आश्रय से मुक्ति और व्यवहार के आश्रय से बन्ध होता है, इस प्रकार उस सलाह को ध्यान में लेकर भी उसरूप परिणमन नहीं किया; शास्त्रकथित दोनों पहलुओं को ध्यान में तो लिया परन्तु रुचि तो राग में ही रखी, तब सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा? उसे दिव्यध्वनि का कथन तो ध्यान में आ जाता है कि 'भगवान ऐसा कहते हैं' किन्तु उस ओर वह रुचि नहीं करता। क्षयोपशमभाव से मात्र धारणा करता है, परन्तु वह यथार्थतः रुचि से नहीं समझता। यदि यथार्थतः रुचि से समझे तो सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहे।

स्वभाव की बात राग से भिन्न होती है। जो जीव, स्वभाव की रुचि के साथ स्वभाव की बात सुनता है, वह उस समय राग से आंशिक भिन्न होकर सुनता है। यदि स्वभाव की बात सुनते-सुनते उकता जाए अथवा यह विचार आये कि यह तो कठिन मार्ग है, इस प्रकार स्वभाव की ओर अरुचि हो तो समझना चाहिए कि उसे स्वभाव की अरुचि और राग की रुचि है, क्योंकि वह यह मानता है कि राग में मेरा वीर्य काम कर सकता है; रागरहित स्वभाव में नहीं कर सकता — यह भी व्यवहार का ही पक्ष है।

स्वभाव की बात सुनकर, उसकी महिमा लाकर, स्वभाव की ओर वीर्य का उल्लास इस प्रकार होना चाहिए कि 'अहो! यह तो मेरा ही स्वरूप बतला रहे हैं' किन्तु यदि ऐसा माने कि 'यह काम

मुझसे नहीं होगा' तो समझना चाहिए कि वह राग के चक्कर में पड़ गया है, राग से पृथक् नहीं हुआ है।

हे भाई! यदि तूने यह माना कि तुझसे राग का कार्य हो सकता है, किन्तु राग से अलग होकर रागरहित ज्ञान का कार्य, जो कि तेरा स्वभाव ही है, तुझसे नहीं हो सकता तो समझना चाहिए कि त्रैकालिक स्वभाव की अरुचि होने से तुझे सूक्ष्मरूप में राग के प्रति मिठास है; व्यवहार की पकड़ है और यही कारण है कि सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जहाँ रागरहित ज्ञायकस्वभाव की बात आये, वहाँ यदि जीव को ऐसा लगे कि 'यह काम कैसे होगा?' तो समझना चाहिए कि उसका वीर्य व्यवहार में अटक गया है, उसे स्वभाव की दृष्टि नहीं है। ज्ञानस्वभाव सूक्ष्म है, उसकी मिठास छूटी कि राग की मिठास आ गयी। वह जीव अभी निश्चयस्वभाव की अपूर्व बात को नहीं समझा और उसे किसी न किसी प्रकार से व्यवहार की रुचि रह गयी है।

पण्डित जयचन्द्रजी श्री समयप्राभृत में कहते हैं कि 'प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही विद्यमान है और इसका उपदेश भी बहुधा सभी प्राणी परस्पर करते हैं तथा जिनवाणी में शुद्धनय का हस्तावलम्बन समझ कर व्यवहार का उपदेश बहुत किया है, किन्तु इसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष कभी नहीं आया और इसका उपदेश भी विरल है, क्वचित्-क्वचित् है; इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि 'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। इसे जाने बिना जीव जब तक व्यवहार में मग्न है, तब तक आत्मा के ज्ञान-श्रद्धारूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता।'

आत्मा के निश्चयस्वभाव की दृष्टि करने पर व्यवहार गौण हो जाता है। वहाँ यदि स्वभाव के कार्य के लिए वीर्य नकार करे और व्यवहार के लिए रुचि करे तो समझना चाहिए कि उसे स्वभाव की रुचि नहीं है और स्वभाव की रुचि के बिना वीर्य स्वभाव में काम नहीं कर सकता अर्थात् उसकी व्यवहार की रुचि दूर नहीं होती।

ज्ञानियों ने यह बात बारम्बार कही है कि यह निश्चयनय, व्यवहार का निषेध करता है। उसमें व्यवहार के स्वरूप का ज्ञान भी उसी के साथ आ जाता है। निश्चयनय जिस व्यवहार का निषेध करता है, वह व्यवहार कौन सा है? कुदेव आदि की मान्यतारूप जो ज्ञान है, वह तो मिथ्यात्व पोषक है, उसका तो निषेध ही है क्योंकि उसमें तो व्यवहारत्व भी नहीं है। कुदेव आदि की मान्यता को छोड़कर, सच्चे देव-गुरु-शास्त्रों ने जो कहा है, उसके ज्ञान को व्यवहार कहा गया है और वह भी निश्चयसम्यग्दर्शन का मूलकारण नहीं है, इसलिए निश्चयस्वभाव के बल से व्यवहार का निषेध किया गया है।

जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी कुदेव आदि को सत्यार्थरूप में मानता है, वह ज्ञान तो व्यवहार से भी भ्रष्ट अर्थात् दूर है। जिन निमित्तों की ओर से वृत्ति को उठाकर स्वभाव में ढलना होता है, वे निमित्त क्या हैं, इसका जिसे विवेक नहीं है, उसे स्वभाव का विवेक तो हो ही नहीं सकता और यह भी नियम नहीं है कि जो सच्चे निमित्तों की ओर झुकता है, उसे स्वभाव का विवेक होता ही है; नियम तो यह है कि जो निश्चयस्वभाव का आश्रय लेता है, उसे सम्यग्दर्शन अवश्य होता है; इसीलिए निश्चयनय से आश्रय से व्यवहारनय का निषेध है।

शास्त्र की ओर के विकल्प से जो ज्ञान है, वह व्यवहार है। उस ज्ञान की ओर से वीर्य को हटाकर, उसे स्वभाव की ओर मोड़ा जाता

है। सत् निमित्त की ओर के भाव से जैसा पुण्यबन्ध होता है, वैसा पुण्य अन्य निमित्तों की ओर के झुकाव से नहीं बँधता। तात्पर्य यह है कि यद्यपि लोकोत्तर पुण्य भी सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के विकल्प से होता है किन्तु वह भी पर की ओर सन्मुख है, निश्चयस्वभाव की ओर सन्मुख नहीं है; इसलिए उसका निषेध है। जैसे पागल मनुष्य का ज्ञान / निर्णय हीन होता है, इसलिए उसका माता को माता कहना भी अयथार्थ है; इसी प्रकार अज्ञानी का स्वभाव की ओर का निर्णयरहित ज्ञान दोषित हुए बिना नहीं रह सकता।

सर्वज्ञ भगवान के कथन की ओर जो झुकाव है, वह भी व्यवहार की ओर का झुकाव है। वीतराग शासन में कथित जीवादि नव तत्त्वों की विकल्प से जो श्रद्धा है, वह भी पुण्य का कारण है क्योंकि उसमें भेद का और पर का लक्ष्य है और परलक्ष्य धर्म का कारण नहीं है। जिस जीव के निमित्त तो अविरुद्ध है किन्तु निमित्त की ओर से हटकर अभी स्वभाव की ओर नहीं झुका है, उसे भी निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है।

आचाराङ्ग इत्यादि सच्चे शास्त्र, जीवाजीवादिक नव तत्त्वों का स्वरूप और एकेन्द्रिय आदि छह जीवनिकायों का प्रतिपादन वीतराग जिनशासन के अतिरिक्त अन्य किसी में तो है ही नहीं, परन्तु वीतराग जिनशासन में कहे अनुसार शास्त्रों का ज्ञान करे, जीवादिक नवतत्त्वों की श्रद्धा करे और छह जीवनिकायों को मानकर उनकी दया करे तो वह भी पुण्य का कारण है और उसे व्यवहारदर्शन-ज्ञान-चारित्र कहा जाता है किन्तु परमार्थदृष्टि उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र के रूप में स्वीकार नहीं करती, क्योंकि जिनशासन के व्यवहार तक आया, इतने मात्र से धर्म नहीं है। यदि निश्चय आत्मस्वभाव की ओर ढलकर उस व्यवहार का निषेध करे तो धर्म है। इस प्रकार निश्चयनय, व्यवहार का निषेध करता है।

इस प्रकार यहाँ यह बताया है कि अज्ञानी को व्यवहार की सूक्ष्म पकड़ कहाँ रह जाती है ? तथा निश्चयनय का आश्रय कैसे होता है ? अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीवों को मिथ्यात्व क्यों रह जाता है तथा सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट होता है ? – यह बतलाया है।

इस विषय से सम्बन्धित कथन मोक्षमार्गप्रकाशक में भी आता है, वह इस प्रकार है — 'सत्य को जानता है, तथापि उसके द्वारा अपना अयथार्थ प्रयोजन ही सिद्ध करता है; इसलिए वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता।'

यद्यपि ज्ञान के क्षयोपशम में निश्चय–व्यवहार दोनों का ख्याल होता है, तथापि अपने बल को निश्चय की ओर ढालना चाहिए, उसकी जगह व्यवहार की ओर ढालता है; इसलिए व्यवहार का पक्ष रह जाता है।

अज्ञानी व्यवहार–व्यवहार करता है और ज्ञानी निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध ही निषेध करता है।

श्री प्रवचनसारजी में कहा है कि – 'जिसे ऐसा आगमज्ञान हो गया है कि जिसके द्वारा समस्त पदार्थों को हस्तकमलकवत् जानता है, और यह भी जानता है कि इसका जाननेवाला मैं हूँ, परन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकार अपने को परद्रव्य से भिन्न केवल चैतन्य –द्रव्यरूप अनुभव नहीं करता' अर्थात् स्व–पर को जानता हुआ भी अपने निश्चयस्वभाव की ओर नहीं झुकता, किन्तु व्यवहार की पकड़ में अटक जाता है, इसलिए वह कार्यकारी नहीं है; क्योंकि वह निश्चय का आश्रय नहीं लेता। ●

7

अनेकान्त और स्याद्वाद

प्रश्न 1- स्याद्वाद-अनेकान्त के विषय में समयसार कलश चार में क्या बताया है?

उत्तर - **उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके,**
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥4॥

श्लोकार्थ - [**उभय-नय-विरोध-ध्वंसिनि**] निश्चय और व्यवहार - इन दो नयों के विषय के भेद से परस्पर विरोध है; उस विरोध का नाश करनेवाला [**स्यात्-पद-अंके**] 'स्यात्' पद से चिह्नित [**जिनवचसि**] जो जिन भगवान का वचन (वाणी) है, [**ये रमन्ते**] उसमें जो पुरुष रमते हैं (रङ्ग, राग, भेद का आश्रय छोड़कर, त्रिकाली अपने भगवान का आश्रय लेते हैं), [**ते**] वे पुरुष [**स्वयं**] अपने आप ही (अन्य कारण के बिना) [**वान्तमोहाः**] मिथ्यात्वकर्म के उदय का वमन करके, [**उच्चैः परं ज्योतिः समयसारं**] इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को [**सपदि**] तत्काल (उसी क्षण) [**ईक्षन्ते एव**] देखते ही हैं (अनुभव करते हैं)। कैसा है समयसाररूप शुद्ध आत्मा? [**अनवम्**] नवीन उत्पन्न नहीं हुआ; किन्तु कर्मों से आच्छादित था, सो ज्ञायक की ओर दृष्टि करने से प्रगट व्यक्तरूप हो गया है और समयसाररूप शुद्ध आत्मा कैसा है? [**अनय-पक्ष-अक्षुण्णम्**] सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता, निर्बाध है।

प्रश्न 2– स्याद्‌वाद–अनेकान्त के विषय में नाटक समयसार में क्या बताया है ?

उत्तर – निहचैमैं रूप एक विवहारमैं अनेक,
याहि नै–विरोध मैं जगत भरमायौ है।
जगके विवाद नासिबे कौं जिन आगम है,
जामैं स्याद्वाद नाम लच्छन सुहायौ है॥
दरसनमोह जाकौ गयौ है सहजरूप,
आगम प्रमान ताके हिरदैं मैं आयौ है।
अनैसौ अखंडित अनूतन अनंत तेज,
ऐसौ पद पूरन तुरन्त तिनि पायौ है॥

अर्थ – निश्चयनय से पदार्थ एकरूप है और व्यवहार में अनेकरूप है। इस नय–विरोध में संसार भूल रहा है, सो इस विवाद को नष्ट करनेवाला जिनागम है, जिसमें स्याद्वाद का शुभ चिह्न है। (मुहर छाप लगी है – स्याद्वाद से ही पहिचाना जाता है कि यह जिनागम है)। जिस जीव को दर्शनमोहनीय का उदय नहीं होता, उसके हृदय में स्वतः स्वभाव यह प्रमाणिक जिनागम प्रवेश करता है और उसे तत्काल ही नित्य, अनादि और अनन्त प्रकाशमान मोक्षपद प्राप्त होता है।

प्रश्न 3– स्याद्‌वाद–अनेकान्त के विषय में पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, श्लोक 225 में अमृतचन्द्राचार्यजी ने क्या बताया है ?

उत्तर – एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमिरतरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थान नैत्रमिव गोपी॥

अर्थात् दही की मथानी की रस्सी को खेंचनेवाली ग्वालिनी की तरह जिनेन्द्रदेव की स्याद्वाद नीति अथवा निश्चय–व्यवहाररूप

नीति वस्तु के स्वरूप को एक सम्यग्दर्शन से अपनी तरफ खेंचती है, दूसरे से अर्थात् सम्यग्ज्ञान से शिथिल करती है और अन्तिम अर्थात् सम्यक्चारित्र से सिद्धरूप कार्य को उत्पन्न करने से सर्व के ऊपर वर्तती है।

भावार्थ - भगवान की वाणी, स्याद्वाद अनेकान्तात्मक है; वस्तु का स्वरूप प्रधानतया-गौणनय की विवक्षा से किया जाता है। जैसे कि जीवद्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है; द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से नित्य है और पर्यायार्थिकनय की विवक्षा से अनित्य है, यह नय विवक्षा है।

प्रश्न 4- नाटक-समयसार में जैनमत का मूल सिद्धान्त क्या बताया है, जिससे जीव, संसार से पार होते हैं?

उत्तर - स्याद्वाद अधिकार अब, कहौं जैन कौ मूल।
जाके जानत जगत जन, लहैं जगत-जल-कूल॥

अर्थ - जिनमत का मूल सिद्धान्त 'अनेकान्त स्याद्वाद' है। जिसका ज्ञान होने से जगत् के मनुष्य, संसार-सागर से पार होते हैं।

प्रश्न 5- अनेकान्तमयी जिनवाणी का स्वरूप, श्री प्रवचनसार, कलश दो में क्या बताया है?

उत्तर - 'जो महामोहरूपी अन्धकार समूह को लीलामात्र में नष्ट करता है और जगत् के स्वरूप को प्रकाशित करता है, वह अनेकान्त ज्ञान सदा जयवन्त रहो' - ऐसा बताया है।

प्रश्न 6- समयसार कलश दो में पण्डित जयचन्द्रजी ने सरस्वती की अनेकान्तमयी सत्यार्थमूर्ति किसे कहा है?

उत्तर - 'सम्यग्ज्ञान ही सरस्वती की सत्यार्थमूर्ति है। उसमें भी सम्पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है, जिसमें समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष भासित

होते हैं। केवलज्ञान, अनन्त धर्म और गुणसहित आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देखता है; इसलिए वह सरस्वती की मूर्ति है और केवलज्ञान के अनुसार जो भावश्रुतज्ञान है, वह आत्मतत्त्व को परोक्ष देखता है; इसलिए भावश्रुतज्ञान भी सरस्वती की मूर्ति है। द्रव्यश्रुत-वचनरूप है, वह भी निमित्तरूप उसकी मूर्ति है, क्योंकि वह वचनों के द्वारा अनेक धर्मवाले आत्मा को बतलाती है। इस प्रकार समस्त पदार्थों के तत्त्व को बतानेवाली सम्यग्ज्ञानरूप (उपादान) तथा वचनरूप (निमित्त) अनेकान्तमयी सरस्वती की मूर्ति है।'

प्रश्न 7- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के दूसरे श्लोक में कैसे अनेकान्त को नमस्कार किया है?

उत्तर - (1)जो परमागम का जीवन है, (2) जिसने अन्य एकान्तमतियों की भिन्न-भिन्न एकान्त मान्यताओं का खण्डन कर दिया है, और (3) जिसने समस्त नयों द्वारा प्रकाशित जो वस्तु का स्वभाव है, उसके विरोध को नष्ट कर दिया है। मैं, उस अनेकान्त को, अर्थात् एक पक्षरहित स्याद्वादरूप भावश्रुतज्ञान को नमस्कार करता हूँ - ऐसा कहा है।

प्रश्न 8- अनेकान्त-स्याद्वाद, परमागम का जीवन क्यों है?

उत्तर - जगत् का प्रत्येक सत्, अनेकान्तरूप है। अस्ति-नास्ति, तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि युगलों से गुँथित है। जब पदार्थ ही स्वत:सिद्ध अनेकान्तरूप है, तो उसको जाननेवाला वही ज्ञान, प्रमाण कोटि में आ सकता है कि जो अनेकान्त को अनेकान्तरूप ही जाने। इसलिए अनेकान्त स्याद्वाद को परमागम का जीवन कहा है -

एक काल में देखिये अनेकान्त का रूप।
एक वस्तु में नित्य ही विधि निषेध स्वरूप॥

प्रश्न 9- अनेकान्त-स्याद्वाद को समझने समझाने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर - अज्ञानियों में अनादिकाल से एक-एक समय करके जो पर पदार्थों में, शुभाशुभ विकारीभावों में कर्ता-भोक्ता की खोटी बुद्धि है, उसका अभाव करने के लिए और अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति के निमित्त अनेकान्त-स्याद्वाद को समझने-समझाने की आवश्यकता है।

प्रश्न 10- अनेकान्त किसे कहते हैं ?

उत्तर - प्रत्येक वस्तु में वस्तुपने की सिद्धि करनेवाली अस्ति -नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का एक ही साथ प्रकाशित होना - उसे अनेकान्त कहते हैं।

प्रश्न 11- प्रत्येक वस्तु में किस-किस का ग्रहण होता है ?

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य का, प्रत्येक गुण का, प्रत्येक पर्याय का, प्रत्येक अविभाग प्रतिच्छेद का ग्रहण होता है।

प्रश्न 12- अनेकान्त की व्याख्या में 'आदि' शब्द आया है, उससे क्या-क्या समझना ?

उत्तर - एक-अनेक, नित्य-अनित्य, अभेद-भेद, सत्-असत्, तत्-अतत् आदि अनेक युगल समझ लेना।

प्रश्न 13- सत्-असत् आदि युगल किस-किस में लग सकते हैं ?

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य में, प्रत्येक गुण में, प्रत्येक पर्याय में, प्रत्येक अविभाग प्रतिच्छेद में लग सकते हैं।

प्रश्न 14- एक अनेक, नित्य-अनित्य, सत्-असत् आदि क्या हैं ?

उत्तर - धर्म हैं; गुण नहीं हैं।

प्रश्न 15– धर्म और गुण में क्या अन्तर है ?

उत्तर – गुणों को धर्म कह सकते हैं, परन्तु धर्मों को गुण नहीं कह सकते हैं। क्योंकि – (1) अस्तित्व, वस्तुत्व आदि सामान्य और विशेषगुण होते हैं, उनकी पर्यायें होती है। (2) नित्य–अनित्य, तत् –अतत् आदि धर्म हैं, उनकी पर्यायें नहीं होती हैं। ये अपेक्षित धर्म हैं।

प्रश्न 16– प्रत्येक द्रव्य में सत्–असत्, नित्य–अनित्य, एक –अनेक आदि अनेक अपेक्षित धर्म हैं, वे किस प्रकार हैं ?

उत्तर – जैसे – एक आदमी को कोई पिताजी, कोई बेटाजी, कोई मामाजी, कोई चाचाजी, कोई ताऊजी कहता है, तो क्या वह झगड़ा करेगा ? नहीं करेगा, क्योंकि वह समझता है, इस अपेक्षा मामा हूँ, इस अपेक्षा पिताजी हूँ; उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में नित्य–अनित्य, एक –अनेक आदि अनेक अपेक्षित धर्म हैं। उनमें अपेक्षा समझने से कभी भी झगड़ा नहीं होगा और अनेकान्त–स्याद्वादधर्म की सिद्धि हो जावेगी।

प्रश्न 17– अनेकान्त–स्याद्वाद किसमें लग सकता है और किसमें नहीं लग सकता है ?

उत्तर – जिसमें जो धर्म हो, उसी में लग सकता है। जिसमें जो धर्म नहीं हो, उसमें नहीं लग सकता है। जैसे – परमाणु निश्चय से अप्रदेशी (एक प्रदेशी) है, व्यवहार से बहुप्रदेशी है; उसी प्रकार कालद्रव्य निश्चय से अप्रदेशी (एक प्रदेशी) है, व्यवहार से काल द्रव्य बहुप्रदेशी हो – ऐसा नहीं है।

प्रश्न 18– अनेकान्त का द्रव्य–गुण–पर्याय क्या है ?

उत्तर – आत्मा, द्रव्य है; ज्ञान, गुण है; अनेकान्त ज्ञानरूप, पर्याय है।

प्रश्न 19– अनेकान्त का व्युत्पत्ति अर्थ क्या है ?

उत्तर – अन् = नहीं; एक = एक; अन्त = धर्म; अर्थात् एक धर्म नहीं, दो / अधिक धर्म हों, यह अनेकान्त का व्युत्पत्ति अर्थ है।

प्रश्न 20– अनेकान्त क्या बताता है?

उत्तर – दो धर्म हों, वे परस्पर विरुद्ध हों और वस्तु को सिद्ध करते हों, यह अनेकान्त बताता है।

प्रश्न 21– क्या नित्य-अनित्य आदि विरोधी धर्म हैं?

उत्तर – नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि विरोधी धर्म नहीं हैं। परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, है नहीं क्योंकि उनकी सत्ता एक द्रव्य में एक साथ पायी जाती है।

प्रश्न 22– वस्तु किसे कहते हैं?

उत्तर – (1) जिसमें गुण-पर्याय बसते हों, उसे वस्तु कहते हैं। (2) जिसमें सामान्य-विशेषपना पाया जावे, उसे वस्तु कहते हैं। (3) जो अपना-अपना प्रयोजनभूत कार्य करता हो, उसे वस्तु कहते हैं।

प्रश्न 23– वस्तु की ये तीन व्याख्या किसमें पायी जाती हैं?

उत्तर – प्रत्येक द्रव्य में पायी जाती हैं। अतः जाति अपेक्षा छह द्रव्य और संख्या अपेक्षा जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तान्त, धर्म -अधर्म-आकाश एक-एक और लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य, सब वस्तु हैं।

प्रश्न 24– वस्तु को जानने से हमें क्या लाभ रहा?

उत्तर – जब प्रत्येक द्रव्य वस्तु है, तो मैं भी एक वस्तु हूँ। मैं अपने गुण-पर्यायों में बसता हूँ; पर में नहीं बसता हूँ। ऐसा जानकर, अपनी वस्तु की ओर दृष्टि करे तो तत्काल सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होकर क्रम से निर्वाण की प्राप्ति हो, यह वस्तु को जानने का लाभ है।

प्रश्न 25– मैं किसमें नहीं बसता हूँ और किसमें बसता हूँ ?

उत्तर – (1) अत्यन्त भिन्न परपदार्थों में नहीं बसता हूँ, अपने गुण–पर्यायों में बसता हूँ। (2) आँख–नाक–कान आदि औदारिक –शरीर में नहीं बसता हूँ, अपने गुण–पर्यायों में बसता हूँ। (3) तैजस –कार्माणशरीर में नहीं बसता हूँ, अपने गुण–पर्यायों में बसता हूँ। (4) भाषा और मन में नहीं बसता हूँ, अपने गुण–पर्यायों में बसता हूँ। (5) शुभाशुभभावों में नहीं बसता हूँ, अपने गुण–पर्यायों में बसता हूँ। (6) अपूर्ण–पूर्ण शुद्धपर्यायोंरूप भेद कल्पना में नहीं बसता हूँ, अपने गुण–पर्यायों में बसता हूँ। (7) भेदनय के पक्ष में नहीं बसता हूँ, अपने गुण–पर्यायों में बसता हूँ। (8) अभेदनय के पक्ष में नहीं बसता हूँ, अपने गुण–पर्यायों में बसता हूँ। (9) भेदाभेदनय के पक्ष में नहीं बसता हूँ, अपने गुण–पर्यायों में बसता हूँ।

प्रश्न 26– प्रत्येक वस्तु अपने–अपने में ही बसती है, पर में नहीं बसती, यह महामन्त्र किन–किन शास्त्रों में आया है ?

उत्तर – (अ) अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न–भिन्न अपनी–अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती।''

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 52)

(आ) सर्व पदार्थ, अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को चुम्बन करते हैं–स्पर्श करते हैं, तथापि वे परस्पर एक–दूसरे को स्पर्श नहीं करते। *(श्री समयसार, गाथा 3)*

(इ) अपने–अपने सत्वकूँ, सर्व वस्तु विलसाय। ऐसे चिंतवै जीव तब, परतें ममत न थाय। *(श्री जयचन्द्रजी, अन्यत्वभावना)*

(ई) अन्य द्रव्य से, अन्य द्रव्य के गुण की उत्पत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि सर्व द्रव्य अपने–अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

(श्री समयसार, गाथा 372)

(उ) सत् द्रव्य लक्षणम्। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्।

(तत्त्वार्थसूत्र)

(ऊ) जिनेन्द्रभगवान की वाणी से कथित सर्व पदार्थों का द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप ही यथार्थ है, यह पारमेश्वरी व्यवस्था है।

(श्री प्रवचनसार, गाथा 93)

यह सब महामन्त्र हैं।

प्रश्न 27- विरोध कितने प्रकार का है ?

उत्तर - दो प्रकार का है। (1) एक विरोध, बिल्ली-चूहे की तरह; नेवला-साँप की तरह; अन्धकार-प्रकाश की तरह; सम्यक्त्व के समय ही मिथ्यात्व का सद्भाव मानना आदि विरोध, वस्तु को नाश करनेवाला है। (2) दूसरा विरोध, अस्ति-नास्ति आदि वस्तु को सिद्ध करनेवाला है।

प्रश्न 28- बिल्ली-चूहे की तरह का विरोध, वस्तु का नाश करनेवाला कैसे है ?

उत्तर - वस्तु अनेकान्तरूप है, परन्तु जो वस्तु को सर्वथा एकरूप ही मानते हैं, वह विरोध, वस्तु का नाश करनेवाला है। जैसे - कोई वस्तु को सर्वथा सामान्यरूप ही मानता है। कोई वस्तु को सर्वथा विशेषरूप ही मानता है। कोई वस्तु को सर्वथा असत् ही मानता है। कोई वस्तु को सर्वथा एकरूप मानकर द्रव्य-गुण-पर्याय के भेदों का नाश करता है। कोई वस्तु को सर्वथा भेदरूप ही मानकर स्वतःसिद्ध अखण्ड वस्तु को खण्ड-खण्ड ही मानता है। ऐसी मान्यताएँ, अर्थात् बिल्ली-चूहे की तरह का विरोध, वस्तु का नाश करनेवाला है।

प्रश्न 29- क्या कहीं छहढाला में वस्तु का नाश करनेवाला विरोध बताया है ?

उत्तर –

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
कपिलादि-रचित श्रुत को अभ्यास, सो है कुबोध बहुदेनत्रास॥

(1) जगत् में सर्वथा नित्य, एक, अद्वैत और सर्व-व्यापक ब्रह्ममात्र वस्तु है; अन्य कोई पदार्थ नहीं है। (2) वस्तु सर्वथा क्षणिक-अनित्य है। (3) गुण-गुणी, सर्वथा भिन्न हैं; किसी गुण के संयोग से वस्तु है। (4) जगत् का कोई कर्ता-हर्ता तथा नियंता है। (5) दया-दान महाव्रतादि शुभराग से मोक्ष होता है। (6) निमित्त से उपादान में कार्य होता है। (7) शुभभाव, मोक्षमार्ग है आदि सर्वथा एकान्तरूप विरोध, वस्तु का नाश करनेवाला है – ऐसा छहढाला में बताया है।

प्रश्न 30– अस्ति-नास्ति आदि विरोध, वस्तु को सिद्ध करनेवाला किस प्रकार है?

उत्तर – नय विवक्षा से वस्तु में अनेक स्वभाव हैं और उनमें परस्पर विरोध है। जैसे – अस्ति है, वह नास्ति का प्रतिपक्षीपना है परन्तु जब स्याद्वाद अनेकान्त से स्थापन करें तो सर्व विरोध दूर हो जाता है।

प्रश्न 31– नित्य-अनित्य विरोध, वस्तु को कैसे सिद्ध करता है?

उत्तर – क्या वस्तु नित्य है? उत्तर हाँ। क्या वस्तु अनित्य भी है? उत्तर हाँ। देखो, दोनों प्रश्नों के उत्तर में 'हाँ' है। विरोध लगता है परन्तु वस्तु द्रव्य-गुण की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है – ऐसा स्याद्वाद-अनेकान्त वस्तु को सिद्ध करता है।

प्रश्न 32– तत्-अतत् विरोध वस्तु को कैसे सिद्ध करता है?

उत्तर – जो (वस्तु) तत् है, वही अतत् है। आत्मा, स्वरूप से

(ज्ञानरूप से) तत् है, वही ज्ञेयरूप से अतत् है। स्याद्वाद अनेकान्त वस्तु को तत्–अतत् स्वभाववाली बतलाकर, इनके विरोध को मेटकर वस्तु को सिद्ध करता है।

प्रश्न 33– एक–अनेक का विरोध, वस्तु को कैसे सिद्ध करता है?

उत्तर – एक नय अखण्ड वस्तु की स्थापना करके द्रव्य–गुण –पर्याय के भेद को इन्कार करता है, किन्तु अनेक नय द्रव्य–गुण –पर्याय का भिन्न–भिन्न लक्षण बतलाकर, वस्तु को भेदरूप स्थापित करता है। इस प्रकार इनमें विरोध दिखते हुए भी स्याद्वाद–अनेकान्त वस्तु को एक–अनेक बतलाकर, इनके विरोध को मेटकर, वस्तु को सिद्ध करता है।

प्रश्न 34– उपादान और निमित्त में एकान्ती और अनेकान्ती की मान्यता किस प्रकार हैं?

उत्तर – (1) उपादान कुछ नहीं करता, केवल निमित्त ही उसे परिणमाता है, वह भी एक धर्म को माननेवाला एकान्ती है, तथा जो यह मानता है कि निमित्त की उपस्थिति ही नहीं होती, वह भी एक धर्म का लोप करनेवाला एकान्ती है। (2) परन्तु जो यह मानता है कि परिणमन तो सब निरपेक्ष अपने–अपने चतुष्टय में स्वकाल की योग्यता से करते हैं, किन्तु जहाँ आत्मा विपरीतदशा में परिणमता है, वहाँ योग्य कर्म का उदयरूप निमित्त की उपस्थिति होती है तथा जहाँ आत्मा पूर्ण स्वभावरूप परिणमता है, वहाँ सम्पूर्ण कर्म का अभावरूप निमित्त होता है, वह दोनों धर्मों को माननेवाला अनेकान्ती है।

प्रश्न 35– व्यवहार–निश्चय में एकान्ती और अनेकान्ती की मान्यता किस प्रकार हैं?

उत्तर – (1) जो निश्चयरत्नत्रय से अनभिज्ञ है और मात्र देव

–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन; शास्त्रज्ञान को सम्यग्ज्ञान; अणुव्रतादिक को श्रावकपना; और महाव्रतादिक को मुनिपना मानता है, वह व्यवहाराभासी एकान्ती है। जो भूमिकानुसार राग को पूर्वचर या सहचररूप से नहीं मानता, वह निश्चयाभासी एकान्ती है।

(2) किन्तु जो मोक्षमार्ग तो निरपेक्ष शुद्धरत्नत्रय को ही मानता है और भूमिकानुसार पूर्वचर या सहचर भी साधक के होता है – ऐसा मानता है, वह स्याद्वाद–अनेकान्त का मर्मी अनेकान्ती है।

प्रश्न 36– द्रव्य और पर्याय के विषय में एकान्ती कौन है और अनेकान्ती कौन है ?

उत्तर – (1) जो साँख्यवत् त्रिकाली शुद्धद्रव्य को त्रिकाल शुद्ध मानता है किन्तु पर्याय को नहीं मानता है। वह एक धर्म का लोप करनेवाला एकान्ती है, तथा जो बौद्धवत् पर्याय को ही मानता है, उसमें अन्वयरूप से पाया जानेवाला द्रव्य को नहीं मानता, वह भी एक धर्म का लोप करनेवाला एकान्ती है।

(2) किन्तु जो द्रव्य और पर्याय दोनों को मानता है तथा पर्याय का आश्रय छोड़कर, द्रव्य का ही आश्रय करता है, वह स्याद्वाद अनेकान्त का मर्मी अनेकान्ती है।

प्रश्न 37– जो पर की क्रिया को अपनी मानता है, वह कौन है और प्रत्येक द्रव्य में अपनी–अपनी क्रिया होती है – ऐसा मानता है, वह कौन है ?

उत्तर – (1) मन–वचन–काय, पर वस्तु की क्रिया का कर्ता आत्मा को मानता है, वह एक पदार्थ की क्रिया का लोप करनेवाला एकान्ती है।

(2) जो यह मानता है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्ररूप से अपने –अपने परिणाम को करता है, वह स्याद्वाद–अनेकान्त का मर्मी अनेकान्ती है।

प्रश्न 38– विरोध होते हुए भी विरोध, वस्तु को सिद्ध करता है, इसमें करणानुयोग का दृष्टान्त देकर समझाओ ?

उत्तर – क्या अपनी मूर्खता चक्कर खिलाती है ? उत्तर – हाँ! क्या कर्म भी चक्कर खिलाता है ? उत्तर–हाँ! दोनों प्रश्नों के उत्तर में 'हाँ' है, विरोध लगता है। परन्तु आत्मा अपनी मूर्खता से चक्कर काटता है, यह निश्चयनय का कथन है और कर्म चक्कर कटाता है, यह व्यवहारनय का कथन है – ऐसा स्याद्वादी–अनेकान्ती जानता है क्योंकि वह चारों अनुयोगों के रहस्य का मर्मी है।

प्रश्न 39– क्या मुख्य–गौण वस्तु के भेद हैं ?

उत्तर – वस्तु के भेद नहीं हैं, क्योंकि मुख्य–गौण वस्तु में विद्यमान धर्मों की अपेक्षा नहीं हैं किन्तु वक्ता की इच्छानुसार हैं। मुख्य–गौण कथन के भेद हैं; वस्तु के नहीं हैं।

प्रश्न 40– शास्त्रों में 'ही' का प्रयोग किस–किस दृष्टि से किया है ?

उत्तर – (1) एक दृष्टि से कथन में 'ही' आता है।

(2) 'ही' दृढ़ता सूचक है।

(3) जहाँ अपेक्षा स्पष्ट बतानी हो, वहाँ 'ही' अवश्य लगाया जाता है।

(4) 'ही' अपने विषय के बारे में सब शङ्काओं का अभाव कर, दृढ़ता बताता है। जैसे – आत्मा, द्रव्यदृष्टि से शुद्ध ही है।

(5) 'ही' सम्यक्एकान्त को बताता है।

प्रश्न 41– शास्त्रों में 'भी' का प्रयोग किस–किस दृष्टि से किया जाता है ?

उत्तर – (1) प्रमाण की दृष्टि से कथन में 'भी' आता है ? जैसे आत्मा, शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है।

(2) अपूर्ण को पूर्ण न समझ लिया जावे, इसके लिए 'भी' का प्रयोग होता है।

(3) जो बात अंश के विषय में कही जा रही हैं, उसे पूर्ण के विषय में ना समझ लिया जावे, इसके लिए 'भी' का प्रयोग होता है।

दूसरे प्रकार के शब्दों में कहा जावे – (1) (सापेक्ष) जहाँ कोई अपेक्षा ना दिखाई जावे, वहाँ पर 'भी' का प्रयोग होता है। जैसे – द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है।

(2) (सम्भावित) जितनी वस्तु कही है उतनी मात्र ही वस्तु नहीं है; दूसरे धर्म भी उसमें हैं, यह बताने के लिए 'भी' का प्रयोग होता है।

(3) (अनुक्त) अपनी मनमानी कल्पना से कैसा भी धर्म, वस्तु में फिट न कर लिया जावे, ऐसे मनमानी के धर्मों के निषेध के लिए 'भी' का प्रयोग होता है।

प्रश्न 42– व्यवहार, उपचार कब कहा जा सकता है ?

उत्तर – (1) जिसको निश्चय प्रगटा हो, उस को उपचार लागू होता है; क्योंकि अनुपचार हुए बिना, उपचार लागू नहीं होता है।

(2) व्यवहार या उपचार यह झूठा कथन है, क्योंकि व्यवहार के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए इसका त्याग करना। जहाँ–जहाँ व्यवहार या उपचार कथन हो, वहाँ 'ऐसा है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' – ऐसा जानने पर व्यवहार, उपचार कहा जा सकता है।

प्रश्न 43– सम्यक् अनेकान्ती कौन है ?

उत्तर – वस्तु, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा सामान्य है; विशेष नहीं है, तथा वस्तु, पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा विशेष है; सामान्य नहीं है – यह दोनों सम्यक् अनेकान्ती हैं।

प्रश्न 44– मिथ्या अनेकान्ती कौन है?

उत्तर – वस्तु, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा सामान्य भी है और विशेष भी है, तथा पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा वस्तु विशेष भी है और सामान्य भी है, यह दोनों मान्यतावाले मिथ्या अनेकान्ती हैं।

प्रश्न 45– अपनी आत्मा का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है और देव–गुरु–शास्त्र का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है। इसमें सच्चा अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त किस प्रकार है?

उत्तर – अपनी आत्मा का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है और देव–गुरु–शास्त्र का श्रद्धान, सम्यग्दर्शन नहीं है, यह सच्चा अनेकान्त है और अपनी आत्मा का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है और देव–गुरु–शास्त्र का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है, यह मिथ्या अनेकान्त है।

प्रश्न 46– (1) देशचारित्ररूप शुद्धि भी श्रावकपना है और 12 अणुव्रतादिक भी श्रावकपना है। (2) सकलचारित्र–रूप शुद्धि भी मुनिपना है और 28 मूलगुण पालन भी मुनिपना है। (3) सम्यग्दर्शन, आत्मा के आश्रय से भी होता है और दर्शनमोहनीय के अभाव से भी होता है। इन तीन वाक्यों में सच्चा अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त क्या है?

उत्तर – दर्शनचारित्ररूप शुद्धि ही श्रावकपना है और 12 अणुव्रतादिक श्रावकपना नहीं है, यह सच्चा अनेकान्त है। देशचारित्र–रूप शुद्धि भी श्रावकपना है और 12 अणुव्रतादिक भी श्रावकपना है, यह मिथ्या अनेकान्त है। इसी प्रकार बाकी दो वाक्यों में सच्चा अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त लगायें।

प्रश्न 47– अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा? इसके कुछ दृष्टान्त देकर समझाइये।

उत्तर – (1) आत्मा, अपनेरूप से है और पररूप से नहीं है तो

अनेकान्त को समझा है। आत्मा, अपनेरूप से भी है और पररूप से भी है तो अनेकान्त को नहीं समझा।

(2) आत्मा, अपना कर सकता है और पर का नहीं कर सकता तो अनेकान्त को समझा है। आत्मा, अपना भी कर सकता है और पर का भी कर सकता है तो अनेकान्त को नहीं समझा।

(3) आत्मा के आश्रय से प्रगट शुद्धभाव से धर्म होता है और शुभभाव से नहीं होता तो अनेकान्त को समझा है। आत्मा के आश्रय से प्रगट शुद्धभाव से भी धर्म होता है और शुभभाव से भी धर्म होता है तो अनेकान्त को नहीं समझा।

(4) ज्ञान का कार्य, ज्ञान से होता है और दूसरे गुणों से नहीं तो अनेकान्त को समझा है। ज्ञान का कार्य, ज्ञानगुण से भी होता है और दूसरे गुणों से भी होता है तो अनेकान्त को नहीं समझा।

(5) एक पर्याय, अपना कार्य करती है और दूसरी पर्याय का कार्य नहीं करती तो अनेकान्त को समझा है। एक पर्याय अपना भी कार्य करती है और पर का भी कार्य करती है तो अनेकान्त को नहीं समझा।

(6) ज्ञान, आत्मा से होता है और शरीर, इन्द्रियाँ, द्रव्यकर्म और शुभाशुभभावों से नहीं होता, तो अनेकान्त को समझा है। ज्ञान, आत्मा से भी होता है और शरीर, इन्द्रियाँ, द्रव्यकर्म और शुभाशुभभावों से भी होता है तो अनेकान्त को नहीं समझा।

प्रश्न 48- निश्चय-व्यवहार के अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा ?

उत्तर - (1) निश्चय, निश्चय से है; व्यवहार से नहीं है और व्यवहार, व्यवहार से है; निश्चय से नहीं है तो निश्चय-व्यवहार के अनेकान्त को समझा है।

(2) निश्चय, निश्चय से भी है; व्यवहार से भी है और व्यवहार, व्यवहार से भी है, निश्चय से भी है तो निश्चय व्यवहार के अनेकान्त को नहीं समझा।

प्रश्न 49– उपादान–निमित्त के अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा?

उत्तर – (1) उपादान, उपादान से है; निमित्त से नहीं है और निमित्त, निमित्त से है; उपादान से नहीं तो उपादान–निमित्त के अनेकान्त को समझा है।

(2) उपादान, उपादान से भी है, निमित्त से भी है और निमित्त, निमित्त से भी है, उपादान से भी है तो उपादान–निमित्त के अनेकान्त को नहीं समझा है।

प्रश्न 50– कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं अपना कल्याण किया और साथ में दूसरों का भी कल्याण किया – इसमें अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा?

उत्तर – (1) कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं अपना कल्याण किया; दूसरों का कल्याण नहीं किया तो अनेकान्त को समझा है।

(2) कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं अपना कल्याण किया और साथ में दूसरों का भी कल्याण किया तो अनेकान्त को नहीं समझा।

प्रश्न 51– मानतुंगाचार्य ने 48 ताले तोड़े – इसमें अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा?

उत्तर – (1) ताले अपनी योग्यता से टूटे हैं; मानतुंगाचार्य से नहीं तो अनेकान्त को समझा है।

(2) ताले अपनी योग्यता से भी टूटे हैं और मानतुंगाचार्य से भी टूटे हैं तो अनेकान्त को नहीं समझा।

प्रश्न 52– सीता के ब्रह्मचर्य से अग्नि, शीतल हो गयी – इसमें अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा ?

प्रश्न 53– मनोरमा के शील से दरवाजा खुल गया – इसमें अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा ?

प्रश्न 54– श्रीपाल के शरीर का कुष्ट रोग, गन्धोदक से ठीक हुआ – इसमें अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा ?

प्रश्न 55– विषापहार स्तोत्र के पढ़ने से विष दूर हो गया – इसमें अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा ?

उत्तर – उक्त सभी प्रश्नों का प्रश्न ५० या ५१ के अनुसार उत्तर दो।

प्रश्न 56– कर्मों के अभाव से सिद्धदशा की प्राप्ति हुई– इसमें अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा ?

उत्तर – (1) सिद्धदशा की प्राप्ति 14वें गुणस्थान का अभाव करके, आत्मा में से हुई हैं; कर्मों के अभाव से नहीं हुई हैं तो अनेकान्त को समझा है।

(2) सिद्धदशा की प्राप्ति 14वें गुणस्थान का अभाव करके, आत्मा में से भी हुई है और कर्मों के अभाव में से भी हुई है तो अनेकान्त को नहीं समझा है।

प्रश्न 57– दर्शनमोहनीय के अभाव से क्षायिकसम्यक्त्व की प्राप्ति हुई – इसमें अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा ?

प्रश्न 58– केवलज्ञान होने से केवलज्ञानावरणीयकर्म का अभाव हुआ, इसमें अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा ?

प्रश्न 59– कुन्दकुन्द भगवान ने समयसार बनाया, इसमें अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा ?

उत्तर – उक्त सभी प्रश्नों का 56वें प्रश्नोत्तर के अनुसार उत्तर दो।

प्रश्न 60– कुत्ता, णमोकारमन्त्र सुनने से स्वर्ग में देव हुआ, इसमें अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा ?

उत्तर – (1) कुत्ता, शुभभाव से स्वर्ग में देव हुआ; णमोकारमन्त्र सुनने से नहीं हुआ तो अनेकान्त को समझा है।

(2) कुत्ता, शुभभाव से भी स्वर्ग में देव हुआ और णमोकारमन्त्र सुनने से भी देव हुआ तो अनेकान्त को नहीं समझा।

प्रश्न 61– (1) बाई ने रोटी बनाई, (2) मैंने दरी बिछाई, (3) मैंने रुपया कमाया, (4) मैंने किताब उठाई, (5) धर्मद्रव्य ने जीव-पुद्‍गल को चलाया, (6) अधर्मद्रव्य ने जीव-पुद्‍गल को ठहराया, (7) मैंने दाँत साफ किये, (8) आकाश से सब द्रव्यों को जगह दी, (9) कालद्रव्य ने सब द्रव्यों को परिणमाया, (10) मैं रोटी खाता हूँ, (11) बढ़ई ने अलमारी बनायी, (12) मैंने मकान बनाया, (13) मैंने कपड़े धोये, (14) इन्द्रभूति को समवसरण के देखते ही सम्यग्दर्शन हुआ आदि वाक्यों में अनेकान्त को कब समझा है और कब नहीं समझा ?

उत्तर – (1) रोटी, लोई का अभाव करके, आटे में से बनी है और बाई से नहीं बनी है तो अनेकान्त को समझा है।

(2) रोटी, लोई का अभाव करके, आटे में से भी बनी है और बाई से भी बनी है तो अनेकान्त को नही समझा।

इसी प्रकार बाकी प्रश्नों के उत्तर दो।

प्रश्न 62– दर्शनावरणीयकर्म के अभाव से केवलदर्शन

की प्राप्ति हुई, इस वाक्य में अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा?

उत्तर – (1) केवलदर्शन, आत्मा के दर्शनगुण में से अचक्षुदर्शन का अभाव करके, उस समय पर्याय की योग्यता से हुआ है और दर्शनावरणीयकर्म के अभाव से तथा आत्मा के दर्शनगुण को छोड़कर दूसरे गुणों से नहीं हुआ है तो अनेकान्त को समझा है।

(2) केवलदर्शन, आत्मा के दर्शनगुण में से अचक्षुदर्शन का अभाव करके, उस समय पर्याय की योग्यता से भी हुआ है और दर्शनावरणीयकर्म के अभाव से तथा आत्मा के दर्शनगुण को छोड़कर, दूसरे गुणों से भी हुआ है तो अनेकान्त को नहीं समझा है।

प्रश्न 63– (1) अनन्तानुबन्धी क्रोधादि द्रव्यकर्म के अभाव से, स्वरूपाचरणचारित्र की प्राप्ति हुई। (2) अन्तरायकर्म के अभाव से, क्षायिकवीर्य की प्राप्ति हुई। (3) वेदनीयकर्म के अभाव से, अव्याबाध प्रतिजीवीगुण में शुद्धता प्रगटी। (4) आयुकर्म के अभाव से, अवगाह प्रतिजीवीगुण में शुद्धता प्रगटी। (5) नामकर्म के अभाव से, सूक्ष्मत्व प्रतिजीवीगुण में शुद्धता प्रगटी। इन छह वाक्यों में अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा?

उत्तर – उक्त सभी प्रश्नों के उत्तर, प्रश्नोत्तर 62 के अनुसार दो।

प्रश्न 64– जो भी पर्याय होती है, भूतकाल–भविष्यत्काल की पर्यायों के सम्बन्ध से होती है, इस वाक्य में अनेकान्त को कब समझा और कब नहीं समझा?

उत्तर – (1) जाति अपेक्षा छह द्रव्यों में तथा प्रत्येक द्रव्य के गुणों में जो भी पर्याय होती है, वह उस समय पर्याय की योग्यता से

ही होती है और भूतकाल-भविष्यत्काल की पर्यायों के सम्बन्ध से नहीं होती है तो अनेकान्त को समझा है।

(2) जाति अपेक्षा छह द्रव्यों में तथा प्रत्येक द्रव्य के गुणों में जो भी पर्याय होती है, वह उस समय पर्याय की योग्यता से भी होती है और भूतकाल-भविष्यत्काल की पर्यायों से भी होती है तो अनेकान्त को नहीं समझा है।

प्रश्न 65- व्रतादि, मोक्षमार्ग है, इसमें सच्चा अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त कैसे है?

उत्तर - शुद्धभाव, मोक्षमार्ग है और व्रतादि, मोक्षमार्ग नहीं है, यह सच्चा अनेकान्त है। शुद्धभाव भी मोक्षमार्ग है और शुभभाव भी मोक्षमार्ग है, यह मिथ्या अनेकान्त है।

प्रश्न 66- (1) शास्त्र से ज्ञान होता है।(2) दर्शनमोहनीय के उपशम से औपशमिकसम्यक्त्व होता है।(3) शुभभावों से धर्म होता है।(4) कुम्हार ने घड़ा बनाया।(5) धर्मद्रव्य ने मुझे चलाया।(6) कर्म, मुझे चक्कर कटाते हैं।(7) शरीर ठीक रहे, तो आत्मा का सुख मिलता है।(8) सम्यग्दर्शन के कारण ज्ञान-चारित्र में शुद्धि होती है।(9) केवलज्ञानावरणीयकर्म के अभाव से केवलज्ञान होता है।(10) केवलज्ञान होने से, केवल-ज्ञानावरणीयकर्म का अभाव होता है। इन सब वाक्यों में अनेकान्त को कब माना और कब नहीं माना, स्पष्ट करो?

उत्तर - (1) ज्ञानगुण से ज्ञान होता है और शास्त्र से नहीं होता है तो अनेकान्त को माना।

(2) ज्ञानगुण से भी ज्ञान होता है और शास्त्र से भी होता है तो अनेकान्त को नहीं माना।

इसी प्रकार बाकी प्रश्नों के उत्तर दो।

प्रश्न 67– सच्चे अनेकान्त के जाननेवाले को कैसे-कैसे प्रश्न उपस्थित नहीं होते हैं ?

उत्तर – (1) मैं किसी का भला–बुरा कर दूँ; (2) मेरा कोई भला–बुरा कर दे; (3) शरीर की क्रिया से धर्म होगा; (4) शुभभाव से धर्म होगा या शुभभाव करते–करते धर्म होगा; (5) निमित्त से उपादान में कार्य होता है; (6) एक गुण का कार्य, दूसरे गुण से होता है; (7) एक पर्याय, दूसरी पर्याय में कुछ करे; आदि प्रश्न सच्चे अनेकान्ती को नहीं उठते हैं क्योंकि वह जानता है कि एक द्रव्य का, दूसरे द्रव्य से; एक गुण का, दूसरे गुण से तथा एक पर्याय का, दूसरी पर्याय से कुछ सम्बन्ध नहीं है; इसलिए सच्चे अनेकान्ती को ऐसे प्रश्न नहीं उठते हैं।

प्रश्न 68– मिथ्यादृष्टि को कैसे-कैसे प्रश्न उठते हैं ?

उत्तर – (1) मैं दूसरों का भला–बुरा या दूसरे मेरा भला–बुरा कर सकते है; (2) शरीर मेरा है; (3) शरीर का कार्य मैं कर सकता हूँ; (4) निमित्त से उपादान में कार्य होता है; (5) शुभभावों से धर्म होता है आदि खोटे प्रश्न मिथ्यादृष्टि को उपस्थित होते हैं क्योंकि वह स्याद्वाद अनेकान्त का रहस्य नहीं जानता है।

प्रश्न 69– स्व से अस्ति और पर से नास्ति क्या बताता है ?

उत्तर – मैं अपने स्वभाव से हूँ और पर से नहीं हूँ – ऐसा अनेकान्त बताता है।

प्रश्न 70– 'पर में' क्या–क्या आया ?

उत्तर – (1) अत्यन्त भिन्न पर पदार्थ; (2) आँख–नाक–कान आदि औदारिकशरीर; (3) तैजस व कार्माणशरीर; (4) भाषा और मन; (5) शुभाशुभभाव; (6) अपूर्ण–पूर्ण शुद्धपर्याय का पक्ष;

(7) भेदनय का पक्ष; (8) अभेदनय का पक्ष; (9) भेदाभेदनय का पक्ष; ये सब पर में आते हैं।

प्रश्न 71– मैं अपने स्वभाव से हूँ और पर से नहीं हूँ, इसको जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर – मैं अपने स्वभाव से हूँ और पर से नहीं हूँ – ऐसा निर्णय करते ही अनादिकाल से जो पर में कर्ता–भोक्ता की बुद्धि थी, उसका अभाव होकर, सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होकर, क्रम से अनन्त चतुष्ट्य की प्राप्ति हो जाती है और स्याद्वाद अनेकान्त का मर्मी बन जाता है।

प्रश्न 72– अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति किसको है और अनन्त चतुष्टय क्या है ?

उत्तर – अनन्त चतुष्ट्य की प्राप्ति अरहन्त भगवान को हुई है और अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य, ये चार अनन्त चतुष्ट्य कहलाते हैं।

प्रश्न 73– भगवान को अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति कैसे हुई ?

उत्तर – भगवान ने अपने स्वचतुष्ट्य की ओर दृष्टि दी, तो उनको अनन्त चतुष्ट्य की प्राप्ति हुई।

प्रश्न 74– भगवान ने कैसे स्वचतुष्टय की ओर दृष्टि दी तो उनको अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति हुई ?

उत्तर – '(1) स्वद्रव्य = निर्विकल्प वस्तु मात्र। परद्रव्य = सविकल्प भेद कल्पना। (2) स्वक्षेत्र = आधारमात्र वस्तु का प्रदेश। परक्षेत्र = जो वस्तु का आधारभूत प्रदेश, निर्विकल्प वस्तुमात्ररूप से कहा था, वही प्रदेश सविकल्प भेदकल्पना से परप्रदेश बुद्धिगोचररूप से कहा जाता है। (3) स्वकाल = वस्तुमात्र

की मूल अवस्था। परकाल = द्रव्य की मूल निर्विकल्प अवस्था, वही अवस्थान्तर भेदरूप कल्पना से परकाल कहा जाता है। (4) स्वभाव = वस्तु की मूल सहजशक्ति। परभाव = द्रव्य की सहजशक्ति के पर्यायरूप (भेदरूप) अनेक अंश द्वारा भेदकल्पना, उसे परभाव कहा जाता है।' इस प्रकार स्व के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की ओर दृष्टि करने से, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की ओर दृष्टि ना करने से, भगवान को अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति हुई।

(श्री समयसार, कलश 252)

प्रश्न 75- हमें अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति कैसे होवे ?

उत्तर - भगवान ने जैसा किया, वैसा ही उपदेश दिया है। जो जीव, भगवान के कहे अनुसार चलता है, उसे अनन्त चतुष्ट्य की प्राप्ति होती है; अन्य प्रकार से नहीं होती है।

प्रश्न 76- स्वचतुष्टय, परचतुष्टय कितने द्रव्यों में पाया जाता है ?

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य में पाया जाता है।

प्रश्न 77- जो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है, वह कैसा भेदविज्ञान करे, तो अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति हो ?

उत्तर - (1) मेरा द्रव्य-गुण-पर्याय, मेरा स्वद्रव्य; इसकी अपेक्षा बाकी सब द्रव्यों के गुण-पर्यायों के पिण्ड, परद्रव्य हैं।

(2) मेरा असंख्यात प्रदेशी आत्मा, स्वक्षेत्र है; इसकी अपेक्षा बाकी सब द्रव्यों का क्षेत्र, परक्षेत्र है।

(3) मेरी पर्यायों का पिण्ड, स्वकाल है; इसकी अपेक्षा बाकी सब द्रव्यों की पर्यायों का पिण्ड, परकाल है।

(4) मेरे अनन्त गुण, मेरा स्वभाव है; इसकी अपेक्षा बाकी सब द्रव्यों के अनन्त गुण, परभाव हैं।

पात्र जीव को प्रथम प्रकार का भेदविज्ञान करने से, अनन्त चतुष्ट्य की प्राप्ति का अवकाश है।

प्रश्न 78- दूसरे प्रकार का भेदविज्ञान क्या है?

उत्तर - (1) मेरे गुण-पर्यायों का पिण्ड, स्वद्रव्य है; इसकी अपेक्षा गुण-पर्यायों का भेद, परद्रव्य है।

(2) असंख्यात् प्रदेशी क्षेत्र, मेरा स्वक्षेत्र है; इसकी अपेक्षा प्रदेश भेद, परक्षेत्र है।

(3) कारणशुद्धपर्याय, मेरा स्वकाल है; इसकी अपेक्षा पर्याय का भेद, परकाल है।

(4) अभेद गुणों का पिण्ड, स्वभाव है; इसकी अपेक्षा ज्ञान -दर्शन का भेद, परभाव है।

पात्र जीव को दूसरे प्रकार का भेदविज्ञान करने से, अनन्त चतुष्ट्य की प्राप्ति का अवकाश है।

प्रश्न 79- तीसरे प्रकार का भेदविज्ञान क्या है?

उत्तर - (1) अनन्त गुण पर्यायों का पिण्डरूप अभेदद्रव्य मैं हूँ - ऐसा विकल्प, परद्रव्य है; इसकी अपेक्षा 'है सो है' वह स्वद्रव्य है।

(2) असंख्यात् प्रदेशी अभेद क्षेत्र का विकल्प, परक्षेत्र है; इसकी अपेक्षा 'जो क्षेत्र है, सो है' जिसमें विकल्प का भी प्रवेश नहीं, वह स्वक्षेत्र है।

(3) कारणशुद्धपर्याय 'अभेद मैं' यह विकल्प परकाल है; इसकी अपेक्षा 'जो है, सो है' जिसमें विकल्प भी नहीं है, वह स्वकाल है।

(4) अभेद गुणों के पिण्ड का विकल्प, परभाव है; इसकी अपेक्षा जिसमें गुणों का विकल्प भी नही हैं 'वह स्वभाव' है।

पात्र जीवों को तीसरे प्रकार के भेदविज्ञान से अनन्त चतुष्ट्य की प्राप्ति नियम से होती है।

प्रश्न 80– जैसा आपने तीन प्रकार का भेदविज्ञान बताया है – ऐसा तो हमने हजारों बार किया है परन्तु हमें अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति क्यों नहीं हुई ?

उत्तर – वास्तव में इस जीव ने एक बार भी भेदविज्ञान नहीं किया है क्योंकि अनुभव होने पर, भूतनैगमनय से तीन प्रकार का भेद–विज्ञान किया, ऐसा उपचार नाम पाता है; अनुभव के बिना उपचार नाम नहीं पाता है।

प्रश्न 81– अस्ति–नास्ति अनेकान्त को वास्तव में कब समझा कहा जा सकता है ?

उत्तर – अपने आत्मा का अनुभव होने पर, अस्ति–नास्ति का अनेकान्त समझा कहा जा सकता है।

प्रश्न 82– 11 अङ्ग 9 पूर्व का पाठी द्रव्यलिङ्गी मुनि भी क्या अस्ति–नास्ति का भेदविज्ञानी नहीं कहा जा सकता ?

उत्तर – बिल्कुल नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अपना अनुभव होने पर ही, भेदविज्ञानी नाम पाता है।

प्रश्न 83– 'अस्ति' में कौन आया ?

उत्तर – अपना परमपारिणामिकभाव ज्ञायकस्वभाव 'अस्ति में' आया। वह भी अस्ति में कब आया ? जब अपने अभेद ज्ञायक स्वभाव के आश्रय से निर्विकल्पता हुई, तब।

प्रश्न 84– मोटेरूप से 'नास्ति' में कौन–कौन आया ?

उत्तर – (1) अत्यन्त भिन्न पर पदार्थ। (2) आँख–नाक–कानरूप औदारिकशरीर। (3) तैजस–कार्माणशरीर। (4) भाषा और मन। (5) शुभाशुभभाव। (6) अपूर्ण–पूर्ण शुद्धपर्यायों का पक्ष। (7) भेदनय का पक्ष। (8) अभेदनय का पक्ष। (9) भेदाभेद–नय का पक्ष।

प्रश्न 85- द्रव्य से अस्ति-नास्ति क्या है ?

उत्तर - वस्तु, स्वभाव से ही सामान्य-विशेषरूप है। उसे सामान्यरूप से देखना, अस्ति है। भेदरूप, विशेषरूप देखना, नास्तिरूप है। प्रदेश दोनों के एक ही हैं।

प्रश्न 86- द्रव्य से अस्ति-नास्ति जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर - विशेष को गौण करके, अपने सामान्य अस्ति की ओर दृष्टि करे, तो तत्काल सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति हो - यह 'अस्ति -नास्ति' जानने से लाभ हुआ।

प्रश्न 87- क्षेत्र से अस्ति-नास्ति क्या है ?

उत्तर - वस्तु, स्वभाव से देश-देशांशरूप है। देशदृष्टि से देखना, सामान्यदृष्टि है, इससे वस्तु में भेद नहीं दिखता है। देशांशदृष्टि से देखना, विशेषदृष्टि है। इस प्रकार सामान्यदृष्टि, क्षेत्र से 'अस्ति' और विशेषदृष्टि, क्षेत्र से 'नास्ति' है।

प्रश्न 88- क्षेत्र से अस्ति-नास्ति जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर - क्षेत्र से नास्ति की दृष्टि गौण करके, सामान्यक्षेत्र के अस्ति पर दृष्टि करे तो तत्काल सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति हो - यह क्षेत्र से 'अस्ति-नास्ति' जानने का लाभ है।

प्रश्न 89- काल से अस्ति-नास्ति क्या है ?

उत्तर - वस्तु, स्वभाव से ही काल-कालांशरूप है। काल से देखना, सामान्यदृष्टि और कालांशदृष्टि से देखना, विशेषदृष्टि है। इस प्रकार सामान्यदृष्टि, काल से अस्ति है और विशेषदृष्टि, काल से नास्ति है।

प्रश्न 90- काल से अस्ति-नास्ति जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर - विशेषदृष्टि कालांश को गौण करके, सामान्यदृष्टि

काल पर दृष्टि करे, तो तत्काल सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति हो, यह काल से अस्ति–नास्ति जानने का लाभ हुआ।

प्रश्न 91– भाव से अस्ति–नास्ति क्या है ?

उत्तर – वस्तु, स्वभाव से ही भाव–भावांशरूप है। भाव की दृष्टि से देखना, सामान्यदृष्टि और भावांश की दृष्टि से देखना, विशेषदृष्टि है। इस प्रकार भाव से सामान्यदृष्टि, भाव से अस्ति है और भावांश विशेषदृष्टि, भाव से नास्ति है।

प्रश्न 92– भाव से अस्ति–नास्ति जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर – भाव से नास्ति की दृष्टि को गौण करके, सामान्य अस्ति की ओर दृष्टि करे, तो तत्काल समयग्दर्शनादि की प्राप्ति हो, यह भाव से अस्ति–नास्ति जानने का फल है।

प्रश्न 93– अस्ति–नास्ति के ज्ञान की समीचीनता कब कही जा सकती है, कब नहीं ?

उत्तर – वस्तु, सत् सामान्य की दृष्टि से द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से हर प्रकार अखण्ड है और वही वस्तु, द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा अंशों में विभाजित हो जाती है; इसलिए खण्डरूप है। वस्तु के दोनों रूप हैं। वस्तु सारी की सारी जिस रूप में देखना हो, उसे मुख्य और दूसरी को गौण कहते हैं। वस्तु के (आत्मा के, क्योंकि तात्पर्य हमें आत्मा से है) दोनों पहलू को जानकर, सामान्य पहलू की ओर दृष्टि करने से जन्म–मरण का अभाव हो जाता है। ऐसा जानकर सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति हुई, तो अस्ति–नास्ति का ज्ञान सच्चा है अन्यथा झूठा है।

प्रश्न 94– अस्ति–नास्ति का ज्ञान किसको है और किसको नहीं है ?

उत्तर – चौथे गुणस्थान से सब ज्ञानियों को है और निगोद से लगाकर द्रव्यलिङ्गी मुनि तक को अस्ति–नास्ति का ज्ञान नहीं है।

प्रश्न 95– नित्य–अनित्य का रहस्य क्या है ?

उत्तर – (1) वस्तु जैसे स्वभाव से स्वतः सिद्ध है, वैसे ही वह स्वभाव से परिणमनशील भी है।

(2) स्वतः स्वभाव के कारण, उस में नित्यपना है और परिणमन स्वभाव के कारण, उसमें अनित्यपना है।

(3) नित्य–अनित्यपना दोनों एक समय में ही होते हैं।

(4) पात्र जीव, अनित्यपर्याय को गौण करके, नित्यस्वभाव की ओर दृष्टि करके, जन्म–मरण के दुःख का अभाव करे। यह नित्य–अनित्य के जानने का रहस्य है।

प्रश्न 96– नित्य किसे कहते हैं ?

उत्तर – पर्याय पर दृष्टि ना देकर, जब द्रव्यदृष्टि से केवल अविनाशी त्रिकाली स्वभाव को देखा जाता है तो वस्तु, नित्य प्रतीत होती है।

प्रश्न 97– नित्यस्वभाव की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर – 'यह वही है' – इस प्रत्यभिज्ञान से इसकी सिद्धि होती है। जैसे, जो मारीच था, वह ही शेर था; वह ही नन्दराजा था; और वह ही महावीर बना; 'यह तो वही है' – इससे नित्यस्वभाव का पता चलता है।

प्रश्न 98– अनित्य किसे कहते है ?

उत्तर – त्रिकाली स्वतः सिद्ध स्वभाव पर दृष्टि न देकर, जब पर्याय से मात्र क्षणिक अवस्था देखी जाती है तो वस्तु, अनित्य प्रतीत होती है।

प्रश्न 99– अनित्य की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर – 'यह वह नहीं है' – इस ज्ञान से इसकी सिद्धि होती है। जैसे, जो मारीच है, वह शेर नहीं; जो शेर है, वह महावीर नहीं; इससे अनित्य की सिद्धि होती है।

प्रश्न 100– आत्मा, नित्य भी है और अनित्य भी है, इसमें अनेकान्त किस प्रकार है ?

उत्तर – आत्मा, द्रव्य–गुण की अपेक्षा नित्य है और आत्मा, पर्याय की अपेक्षा अनित्य है।

प्रश्न 101– नित्य–अनित्य में अनेकान्त कहाँ आया ?

उत्तर – आत्मा, द्रव्य–गुण की अपेक्षा नित्य ही है; अनित्य नहीं है, यह अनेकान्त है और आत्मा, पर्याय की अपेक्षा अनित्य ही है, नित्य नहीं है, यह अनेकान्त है।

प्रश्न 102– कोई कहे आत्मा, द्रव्य–गुण की अपेक्षा नित्य भी है और अनित्य भी है ?

उत्तर – यह मिथ्याअनेकान्त है।

प्रश्न 103– कोई कहे आत्मा, पर्याय की अपेक्षा अनित्य भी है और नित्य भी है ?

उत्तर – यह मिथ्याअनेकान्त है।

प्रश्न 104– नित्य–अनित्यपना किसमें होता है ?

उत्तर – प्रत्येक द्रव्य गुण में अनादि अनन्त नित्य–अनित्यपना होता है।

प्रश्न 105– नित्य–अनित्य पर तीनों प्रकार के भेदविज्ञान लगाकर समझाइये ?

उत्तर – प्रश्नोत्तर 77–78–79 प्रश्नोत्तर के अनुसार उत्तर दो।

प्रश्न 106– नित्य–अनित्य अनेकान्त को समझने से क्या लाभ है?

उत्तर – मुझ आत्मा, नित्य है; बाकी सब पर, अनित्य है – ऐसा जानकर अपने नित्य त्रिकाली भगवान का आश्रय लेकर, धर्म की प्राप्ति होना, यह नित्य–अनित्य को समझने का लाभ है। अतः अनित्य को गौण करके, नित्यस्वभाव का आश्रय लेना पात्र जीवों का परम कर्तव्य है।

प्रश्न 107– मुझ आत्मा नित्य है और पर, अनित्य है तो 'पर में' कौन–कौन आता है?

उत्तर – (1) अत्यन्त भिन्न परपदार्थ, अनित्य हैं। (2) आँख, नाक, कान आदि औदारिकशरीर, अनित्य है। (3) तैजस–कार्माण शरीर, अनित्य हैं। (4) भाषा और मन, अनित्य हैं। (5) शुभाशुभ –भाव, अनित्य हैं। (6) अपूर्ण–पूर्ण शुद्धपर्याय का पक्ष, अनित्य है। (7) भेदनय का पक्ष, अनित्य है। (8) अभेदनय का पक्ष, अनित्य है। (9) भेदाभेदनय का पक्ष, अनित्य है।

प्रश्न 108– मुझ आत्मा ही नित्य है और पर अनित्य हैं, इसको जानने से क्या लाभ है?

उत्तर – अपने नित्य ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होकर, क्रम से वृद्धि करके पूर्ण सिद्धदशा की प्राप्ति होती है और पर जो अनित्य है, उनसे लाभ–नुकसान माने तो चारो गतियों में घूमकर निगोद की प्राप्ति होती है।

प्रश्न 109– सर्वथा नित्यपक्ष के मानने में क्या नुकसान है?

उत्तर – (1) सत् को सर्वथा नित्य मानने में परिणति का अभाव हो जावेगा।

(2) परिणति के अभाव में तत्त्व, क्रिया, फल, कारक, कारण, कार्य कुछ भी नहीं बनेगा।

प्रश्न 110– सर्वथा नित्यपक्ष मानने से 'तत्त्व' किस प्रकार नहीं बनेगा ?

उत्तर – (1) परिणाम, सत् की अवस्था है और यदि परिणाम का अभाव माना जाये तो परिणाम के अभाव में परिणामी (द्रव्य) का अभाव स्वयंसिद्ध है।

(2) व्यतिरेक के अभाव में अन्वय (द्रव्य) अपनी रक्षा नहीं कर सकता। इस प्रकार 'तत्त्व' के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होवेगा।

प्रश्न 111– सर्वथा नित्यपक्ष मानने से क्रिया-फल आदि किस प्रकार नहीं बनेंगे ?

उत्तर – क्रिया-फल, कार्य आदि तो सब पर्याय में होते हैं; इसलिए पर्याय की नास्ति मानने से, अर्थात् सर्वथा नित्यपक्ष मानने से क्रिया-फल आदि नहीं बनने का प्रसङ्ग उपस्थित होवेगा।

प्रश्न 112– सर्वथा नित्यपक्ष मानने से 'तत्त्व और क्रिया' कैसे नहीं बन सकेंगे ?

उत्तर – (1) मोक्ष का साधन जो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव है, वह परिणाम है। उन शुद्धभावों का फल, मोक्ष है और मोक्ष भी निराकुलतारूप, सुखरूप परिणाम है।

(2) मोक्षमार्ग, साधन और मोक्ष, साध्यरूप, ये दोनों परिणाम हैं और परिणाम आप मानते नहीं हो।

(3) क्रिया के अभाव होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो गया, क्योंकि क्रिया, पर्याय में होती है।

(4) मोक्षमार्ग और मोक्षरूप परिणाम का कर्ता, साधक आत्म

–द्रव्य है, सामान्यस्वरूप है, विशेष के बिना सामान्य भी नहीं बनेगा।

(5) इस प्रकार तत्त्व का अभाव ठहरता है, अर्थात् कर्ता, कर्म, क्रिया कोई भी कारक नहीं बनता है।

प्रश्न 113– सर्वथा अनित्यपक्ष मानने में क्या नुकसान है?

उत्तर – (1) सत् को सर्वथा अनित्य मानने से, सत् तो पहले ही नाश हो जावेगा फिर प्रमाण और प्रमाण का फल नहीं बनेगा।

(2) सत् को अनित्य सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रयोग में 'जो सत् है, वह अनित्य है' यह कहना ही गलत हो जावेगा, क्योंकि सत् तो है ही नहीं, फिर 'जो सत् है वह' – यह शब्द कैसा?

(3) सत् को नहीं माननेवाला, उसका अभाव कैसे सिद्ध करेंगे, अर्थात् नहीं कर सकेंगे।

(4) सत् को नित्य सिद्ध करने में जो प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, वह तो क्षणिक एकान्त (सर्वथा) का बाधक है।

(5) वस्तु के अभाव में परिणाम किसका। इसलिए नित्य के अभाव में अनित्य तो गधे के सीङ्ग के समान है।

प्रश्न 114– नित्य-अनित्य के सम्बन्ध में क्या रहा?

उत्तर – द्रव्य और पर्याय, दोनों को मानना चाहिए, क्योंकि पर्याय अनित्य है, उसे गौण करके द्रव्य जो नित्य है, उसका आश्रय लेने से धर्म की शुरुआत और क्रम से पूर्णता की प्राप्ति होती है।

प्रश्न 115– अनेकान्त वस्तु को नित्य-अनित्य बताने से क्या तात्पर्य है?

उत्तर – आत्मा स्वयं नित्य है और स्वयं की पर्याय ही अनित्य है; उसमें जिस ओर की रुचि, उस ओर का परिणाम होता है। नित्य वस्तु की रुचि करे, तो नित्य स्थायी ऐसी वीतरागता की प्राप्ति होती है

और अनित्य पर्याय की रुचि करे, तो क्षणिक राग–द्वेष उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न 116– तत्–अतत् में किस बात का विचार किया जाता है ?

उत्तर – नित्य–अनित्य में बतलाये हुए परिणमनस्वभाव के कारण, वस्तु में जो समय–समय का परिणाम उत्पन्न होता है, वह परिणाम सदृश है या विसदृश है, इसका विचार तत्–अतत् में किया जाता है।

प्रश्न 117– तत् किसे कहते हैं ?

उत्तर – परिणमन करती हुई 'वही की वही है; दूसरी नहीं' – इसे तत्भाव कहते हैं।

प्रश्न 118– अतत् किसे कहते हैं ?

उत्तर – परिणमन करती हुई वस्तु, समय–समय में नयी–नयी उत्पन्न हो रही है। 'वह की वह नहीं है' इसको अतत्भाव कहते हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक समय का सत् ही भिन्न–भिन्नरूप है।

प्रश्न 119– तत् धर्म से क्या लाभ है ?

उत्तर – इससे तत्त्व की सिद्धि होती है।

प्रश्न 120– अतत् धर्म से क्या लाभ है ?

उत्तर – इससे क्रिया, फल, कारक, साधन, साध्य, कारण –कार्य आदि भावों की सिद्धि होती है।

प्रश्न 121– तत्–अतत् का अनेकान्त क्या है ?

उत्तर – प्रत्येक वस्तु में वस्तुपने की सिद्धि करनेवाली तत् –अतत् आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का एक ही साथ प्रकाशित होना, उसे अनेकान्त कहते है।

प्रश्न 122– आत्मा में तत्–अतत्पना क्या है ?

उत्तर – आत्मा 'वह का वही है' यह तत्पना है और बदलते –बदलते 'यह वह नहीं है' यह अतत्पना है।

प्रश्न 123– तत्–अतत् में तीनों प्रकार के भेदविज्ञान लगाकर समझाइये?

उत्तर – प्रश्नोत्तर 77–78–79 के अनुसार उत्तर दो।

प्रश्न 124– आत्मा, तत्रूप से है; अतत्रूप से नहीं, इसको जानने से क्या लाभ?

उत्तर – आत्मा में तत्–अतत्पना दोनों धर्म पाये जाते हैं। अतत्पने को गौण करके, तत्धर्म की ओर दृष्टि करने से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होकर, क्रम से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

प्रश्न 125– अतत् में कौन–कौन आता है?

उत्तर – (1) अत्यन्त भिन्न पदार्थ, अतत् हैं। (2) आँख –नाक–कान औदारिकशरीर, अतत् है। (3) तैजस, कार्माणशरीर अतत् हैं। (4) शब्द और मन, अतत् हैं। (5) शुभाशुभभाव, अतत् हैं। (6) पूर्ण–अपूर्ण शुद्धपर्याय का पक्ष, अतत् है। (7) भेदनय का पक्ष, अतत् है। (8) अभेदनय का पक्ष, अतत् है। (9) भेदाभेदनय का पक्ष अतत् है। (10) ज्ञान की पर्याय, अतत् है। एकमात्र अपना त्रिकाली आत्मा 'वह का वह' तत् है। इस पर दृष्टि देते ही अपने भगवान का पता चल जाता है और क्रम से मोक्षलक्ष्मी का नाथ बन जाता है। अतत् से मेरा भला है या बुरा है – ऐसी मान्यता से चारों गतियों में घूमकर निगोद का पात्र बन जाता है।

प्रश्न 126– एक–अनेकपना क्या है?

उत्तर – अखण्ड सामान्य की अपेक्षा से द्रव्य सत्, एक है और अवयवों की अपेक्षा से द्रव्य सत्, अनेक भी है।

प्रश्न 127– सत् एक है, इसमें क्या युक्ति है?

उत्तर – द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से, गुण–पर्याय का या उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप अंशों का अभिन्न प्रदेशी होने से सत्, एक है; इसलिए अखण्ड सामान्य की अपेक्षा से सत्, एक है।

प्रश्न 128– द्रव्य से सत्, एक कैसे हैं?

उत्तर – गुण–पर्यायों का एक तन्मय पिण्ड द्रव्य, एक है; इसलिए द्रव्य से सत्, एक है।

प्रश्न 129– क्षेत्र से सत्, एक कैसे है?

उत्तर – जिस समय जिस द्रव्य के एक देश में, जितना जो सत् स्थित है, उसी समय उसी द्रव्य के सब देशों में (क्षेत्रों में) भी उतना वही वैसा ही सत् स्थित है। इस अपेक्षा सत्, क्षेत्र से एक है।

प्रश्न 130– काल से सत्, एक कैसे है?

उत्तर – एक समय में रहनेवाला जो जितना और जिस प्रकार का सम्पूर्ण सत् है, वहीं, उतना और उसी प्रकार का सम्पूर्ण सत्, सब समयों में भी है, वह सदा अखण्ड है। इस अपेक्षा सत्, काल से एक है।

प्रश्न 131– भाव से सत्, एक कैसे है?

उत्तर – सत् सब गुणों का तादात्म्य एक पिण्ड है। गुणों के अतिरिक्त उसमें और कुछ है ही नहीं। किसी एक गुण की अपेक्षा जितना सत् है, प्रत्येक गुण की अपेक्षा भी वह उतना ही है। समस्त गुणों की अपेक्षा भी वह उतना ही है। इस अपेक्षा सत्, भाव से एक है।

प्रश्न 132– सत् के अनेक होने में क्या युक्ति है?

उत्तर – व्यतिरेक बिना, अन्वयपक्ष नहीं रह सकता, अर्थात्

अवयवों के अभाव में अवयवी का भी अभाव ठहरता है। अतः अवयवों की अपेक्षा से सत्, अनेक भी है।

प्रश्न 133– द्रव्य से सत्, अनेक कैसे हैं?

उत्तर – गुण अपने लक्षण से है, पर्याय अपने लक्षण से है। प्रत्येक अवयव अपने–अपने लक्षण से भिन्न–भिन्न है; प्रदेशभेद नहीं है; अतः सत्, द्रव्य से अनेक है।

प्रश्न 134– क्षेत्र से सत्, अनेक कैसे हैं?

उत्तर – प्रत्येक देशांश का सत् भिन्न–भिन्न है। इस अपेक्षा क्षेत्र से अनेक भी है; सर्वथा नहीं है।

प्रश्न 135– काल से सत्, अनेक कैसे हैं?

उत्तर – पर्यायदृष्टि से प्रत्येक काल (पर्याय) का सत्, भिन्न–भिन्न है। इस प्रकार सत्, काल की अपेक्षा अनेक है।

प्रश्न 136– भाव की अपेक्षा सत्, अनेक कैसे हैं?

उत्तर – प्रत्येक भाव (गुण) अपने–अपने लक्षण से भिन्न–भिन्न है; प्रदेश भेद नहीं है। इस प्रकार सत्, भाव की अपेक्षा अनेक है।

प्रश्न 137– एक–अनेक पर अनेकान्त किस प्रकार लगता है?

उत्तर – आत्मा, द्रव्य की अपेक्षा एक है; अनेक नहीं है, यह अनेकान्त है; और आत्मा, गुण–पर्यायों की अपेक्षा अनेक है; एक नहीं है, यह अनेकान्त है।

प्रश्न 138– आत्मा, द्रव्य की अपेक्षा एक भी है और अनेक भी है, क्या यह अनेकान्त नहीं है?

उत्तर – यह मिथ्या अनेकान्त है।

प्रश्न 139– द्रव्य, गुण-पर्याय की अपेक्षा अनेक भी है और एक भी है, क्या यह अनेकान्त है ?

उत्तर – यह मिथ्या अनेकान्त है।

प्रश्न 140– एक-अनेक में तीनों प्रकार के भेदविज्ञान समझाइये ?

उत्तर – प्रश्नोत्तर 77, 78, 79 के अनुसार उत्तर दो।

प्रश्न 141– एक-अनेक को जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर – गुण और पर्यायों में जो अनेकपना है, उसे गौण करके एक अभेद का आश्रय ले, तो तुरन्त सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है और क्रम से निर्वाण की ओर गमन होता है।

प्रश्न 142– अनेकपने में क्या-क्या आता है, जिसकी ओर दृष्टि करने से चारों गतियों में घूमकर निगोद जाना पड़ता है ?

उत्तर – (1) अत्यन्त भिन्न पर पदार्थ अनेक हैं। (2) आँख, नाक, कान औदारिकशरीर में अनेक हैं। (3) तैजस, कार्माणशरीर, अनेक हैं। (4) भाषा और मन, अनेक हैं। (5) शुभाशुभभाव, अनेक हैं। (6) अपूर्ण=पूर्ण शुद्धपर्याय का पक्ष, अनेक है। (7) भेदनय का पक्ष, अनेक है। (8) अभेदनय का पक्ष, अनेक है। (9) भेदाभेदनय का पक्ष, अनेक है। (10) गुणभेद, अनेक हैं। इसलिए अनेक की ओर दृष्टि करने से मेरा भला है या बुरा है, ऐसी मान्यता चारों गतियों में घुमाकर निगोद में ले जाती है और इन सबसे दृष्टि उठाकर, एक अभेद भगवान ज्ञायक पर दृष्टि देने से धर्म की प्राप्ति होकर, क्रम से सिद्ध बन जाता है।

प्रश्न 143– स्याद्वाद किसे कहते हैं ?

उत्तर – वस्तु के अनेकान्तस्वरूप को समझानेवाली सापेक्ष कथन पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं।

प्रश्न 144– स्याद्‌वाद का अर्थ क्या है ?

उत्तर – स्यात् = कथंचित किसी प्रकार से, किसी सम्यक् अपेक्षा से; वाद = कथन करना।

प्रश्न 145– स्याद्‌वाद कैसा है ?

उत्तर – अनन्त धर्मोंवाला द्रव्य है। उसके एक-एक धर्म का ज्ञान करके, विवक्षित (मुख्य) अविवक्षित (गौण) की विधि निषेध द्वारा प्रगट होनेवाली सप्तभङ्गी सतत् सम्यक् प्रकार से कथन किये जानेवाले 'स्यात्' काररूपी अमोघमन्त्र द्वारा 'ही' में भरे हुए सर्व विविध विषय के मोह को दूर करता है।

प्रश्न 146– स्याद्‌वाद को स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर – एक ही पदार्थ कथञ्चित् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तिरूप है। कथञ्चित् परचतुष्टय की अपेक्षा से नास्तिरूप है। कथञ्चित् समुदाय की अपेक्षा से एकरूप है। कथञ्चित् गुण-पर्याय की अपेक्षा से अनेकरूप है। कथञ्चित् द्रव्य अपेक्षा से नित्य है। कथञ्चित् पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। कथञ्चित् नय अपेक्षा से वस्तुस्वभाव का कथन करना, उसे स्याद्वाद कहते हैं।

प्रश्न 147– स्यात्-पद क्या बताता है और क्या नहीं बताता है ?

उत्तर – स्यात्-पद अविवक्षितधर्मों का गौणपना बताता है; परन्तु अविवक्षितधर्मों का अभाव करना नहीं बताता है।

प्रश्न 148– स्याद्‌वाद और अनेकान्त में कैसा सम्बन्ध है ?

उत्तर – द्योत्य-द्योतकसम्बन्ध है; वाच्य-वाचकसम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न 149– वाच्य-वाचकसम्बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर – जैसे शब्द हो, वैसा ही पदार्थ हो, उसे वाच्य-वाचक

–सम्बन्ध कहते हैं। जैसे, शक्कर शब्द हुआ, वह वाचक है; शक्कर पदार्थ, वाच्य है और जैसे, गुरु ने कहा आत्मा तो यह वाचक है और आत्मा पदार्थ दृष्टि में आवे, वह वाच्य है।

प्रश्न 150– द्योत्य–द्योतकसम्बन्ध किसमें होता है ?

उत्तर – स्याद्वाद और अनेकान्त में होता है। स्याद्वाद = द्योतक बतलानेवाला है और अनेकान्त = वस्तुस्वरूप है, द्योत्य है, बताने योग्य है।

प्रश्न 151– द्योत्य और द्योतकसम्बन्ध समझ में नहीं आया। कृपया स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर – आत्मा, स्व की अपेक्षा से अस्ति है और पर की अपेक्षा से नास्ति है। यह अस्ति–नास्ति दोनों धर्म एक साथ पाये जाते हैं परन्तु कथन दोनों का एक साथ नहीं हो सकता है। जैसे आत्मा, स्व की अपेक्षा से है, ऐसा कथन किया, वहाँ आत्मा, पर की अपेक्षा नहीं है, यह नहीं कहा गया; परन्तु गौण हो गया – ऐसी कथनशैली को स्याद्वाद कहते हैं; इसलिए अनेकान्त को द्योत्य और स्याद्वाद को द्योतक कहते हैं।

प्रश्न 152– द्योत्य–द्योतकसम्बन्ध कब है ?

उत्तर – वस्तु में अनेक धर्म हैं। जब एक धर्म का कथन किया जावे, दूसरा धर्म गौण होवे, तब द्योत्य–द्योतकसम्बन्ध है।

प्रश्न 153– सप्तभङ्गी कैसे प्रगट होती है ?

उत्तर – जिसका कथन करना है, उस धर्म को मुख्य करके, उसका कथन करने से और जिसका कथन नहीं करना है, उस धर्म को गौण करके, उसका निषेध करने से सप्तभङ्गी प्रगट होती है।

प्रश्न 154– सप्तभङ्गी कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर – दो प्रकार की है। नयसप्तभङ्गी और प्रमाणसप्तभङ्गी।

प्रश्न 155– नयसप्तभङ्गी और प्रमाणसप्तभङ्गी किसे कहते हैं और इनका वर्णन कहाँ किया है?

उत्तर – वक्ता के अभिप्राय को एक धर्म द्वारा कथन करके बताना हो तो उसे नयसप्तभङ्गी कहते हैं और वक्ता के अभिप्राय को सारे वस्तुस्वरूप द्वारा कथन करके बताना हो तो प्रमाणसप्तभङ्गी कहते हैं। प्रवचनसार में नयसप्तभङ्गी का और पञ्चास्तिकाय में प्रमाणसप्तभङ्गी का कथन किया है।

प्रश्न 156– सामान्य और विशेष को जानने से दुःख कैसे मिटे और सुख कैसे प्रगटे?

उत्तर – (1) वस्तु में नित्य, धर्म है जिसके कारण, वस्तु अवस्थित है। इस धर्म को जानने से पता चलता है कि द्रव्यरूप से मोक्ष, आत्मा में वर्तमान में विद्यमान ही है, तो फिर उसका आश्रय करके कैसे प्रगट नहीं किया जा सकता है? वर्तमान पर्याय में मिथ्यात्व है, राग है, द्वेष है, दुःख है, साथ ही यह पता चल जाता है कि परिणमनस्वभाव द्वारा बदल कर, सम्यक्त्व, वीतरागता और सुखरूप परिवर्तित किया जा सकता है।

(2) भव्य जीव, नित्यस्वभाव का आश्रय करके पर्याय के दुःख को सुख में बदल देता है। इसलिए सामान्य और विशेष को जानने से दुख का अभाव और सुख की प्राप्ति होती है।

प्रश्न 157– कोई वस्तु को सर्वथा नित्य ही मान ले तो क्या नुकसान होगा?

उत्तर – निश्चयभासी बन जावेगा।

प्रश्न 158– कोई वस्तु को सर्वथा अनित्य ही मान ले तो क्या नुकसान होगा?

उत्तर – मूलतत्त्व ही जाता रहेगा और बौद्धमत का प्रसङ्ग बनेगा।

प्रश्न 159- नित्य-अनित्य को जानकर, पात्र जीव को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - सामान्य-विशेष दोनों को जानकर, पर्याय को गौण करके, द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेकर धर्म प्रगट करना, पात्र जीव का परम कर्तव्य है।

प्रश्न 160- क्या प्रमाणसप्तभङ्गी को जानने से कल्याण नहीं होता है ?

उत्तर - अवश्य होता है।

प्रश्न 161- प्रमाणसप्तभङ्गी को जानने से कल्याण कैसे होता है ?

उत्तर - [अ] (1) मुझ आत्मा, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्ति है। (2) मुझ आत्मा, तत् है। (3) मुझ आत्मा, नित्य है। (4) मुझ आत्मा, एक है।

[आ] (1) मुझ आत्मा की अपेक्षा बाकी बचे हुए अनन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक और लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य-पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव नास्ति हैं। (2) सब पर पदार्थ, अतत् हैं। (3) सब पर पदार्थ, अनित्य हैं। (4) सब पर पदार्थ, अनेक हैं।

ऐसा जानते ही दृष्टि एकमात्र अपने स्वभाव पर आ जाती है। जब पर की ओर देखना नहीं रहा तो पर्याय में राग-द्वेष भी उत्पन्न नहीं होंगे और दृष्टि एकमात्र स्वभाव पर होने से धर्म की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रथम प्रकार के भेदविज्ञान में पर्याय का भी भेदविज्ञान आ जाता है। इस प्रकार पात्र जीव प्रमाणसप्तभङ्गी को जानने से, धर्म की प्राप्ति करके क्रम से निर्वाण का पात्र बन जाता है।

प्रश्न 162– नयसप्तभङ्गी जानने से कैसे कल्याण हो ?

उत्तर – नयसप्तभङ्गी वह कर सकता है, जिसने मोटेरूप से परद्रव्यों से तो मेरा किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, ऐसा जाना है –

[अ] (1) अनन्त गुणसहित अभेद परमपारिणामिक ज्ञायक –भाव अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से अस्ति है, (2) ज्ञायकभाव, तत् है, (3) ज्ञायकभाव, नित्य है, (4) ज्ञायकभाव, एक है।

[आ] (1) इस त्रिकाली ज्ञायक की अपेक्षा पर्याय में विकारीभाव, अपूर्ण–पूर्ण शुद्धपर्याय, गुणभेद कल्पना आदि परद्रव्य –क्षेत्र–काल–भाव से नास्ति है, (2) विकारीभाव, अपूर्ण–पूर्ण शुद्धपर्याय, गुणभेद कल्पना आदि सब अतत् हैं, (3) विकारीभाव, अपूर्ण–पूर्ण शुद्धपर्याय, गुणभेद कल्पना आदि, अनित्य है, (4) विकारीभाव, अपूर्ण–पूर्ण शुद्धपर्याय, गुणभेद कल्पना आदि, अनेक हैं।

ऐसा निज आत्मा का एक–अनेकात्मक स्वरूप जानकर, पात्र जीव तुरन्त स्व द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से अस्ति, तत्, नित्य, एक स्वभाव की ओर दृष्टि करके, सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति करके क्रम से अपने में एकाग्रता करके, परम मोक्षलक्ष्मी का नाथ बन जाता है।

प्रश्न 163– प्रमाणसप्तभङ्गी और नयसप्तभङ्गी का ज्ञान किसको होता है और किसको नहीं होता है ?

उत्तर – ज्ञानियों को ही इन दोनों का ज्ञान वर्तता है। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनि आदि को इनमें से एक का भी ज्ञान नहीं वर्तता है।

प्रश्न 164– एकान्त के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – सम्यक्एकान्त और मिथ्याएकान्त।

प्रश्न 165– सम्यक्एकान्त और मिथ्याएकान्त क्या है, खोलकर समझाइये ?

उत्तर – (1) अपने स्वरूप से अस्तित्व और पररूप से नास्तित्व आदि जो वस्तुस्वरूप है, उसकी अपेक्षा रखकर प्रमाण द्वारा जाने हुए पदार्थ के एक देश का (पक्ष का) विषय करनेवाला नय, सम्यक् –एकान्त है। (थोड़े में सापेक्षनय, सम्यक्एकान्त है)।

(2) किसी वस्तु के एक धर्म का निश्चय करके, उसमें रहनेवाले अन्य धर्मों का सर्वथा निषेध करना, वह मिथ्याएकान्त है। (निरपेक्षनय, मिथ्याएकान्त है।)

प्रश्न 166– सम्यक्एकान्त और मिथ्याएकान्त के दृष्टान्त दीजिए ?

उत्तर – (1) 'सिद्ध भगवान ही सुखी हैं' – ऐसा जानना, वह सम्यक्एकान्त है क्योंकि 'सिद्ध जीवों को बिल्कुल दुःख नहीं है' – ऐसा गर्भितरूप से उसमें आ जाता है। और 'सर्व जीव एकान्तः सुखी है' – ऐसा जानना मिथ्याएकान्त है क्योंकि वर्तमान में अज्ञानी जीव, दुःखी है, इसका उसमें अस्वीकार है।

(2) 'सम्यग्ज्ञान ही धर्म है' – ऐसा जानना, सम्यक्एकान्त है, क्योंकि 'सम्यग्ज्ञानपूर्वक वैराग्य होता है' – ऐसा उसमें गर्भितरूप से आ जाता है और 'स्त्रीपुत्रादिक का त्याग ही' धर्म है – ऐसा जानना वह मिथ्याएकान्त है, क्योंकि त्याग के साथ सम्यग्ज्ञान होना ही चाहिए – ऐसा इसमें नहीं आता है।

(3) सम्यग्दर्शनादि से ही मुक्ति होती है, यह सम्यक्एकान्त है क्योंकि पर से, महाव्रतादि से नहीं होती है, यह गौण है और महाव्रतादि से ही मुक्ति होती है, यह मिथ्याएकान्त है, क्योंकि सम्यग्दर्शनादि से मुक्ति होती है – ऐसा इसमें नहीं आता है।

प्रश्न 167– आत्मा को शुभभाव से ही धर्म होता है – क्या यह सम्यक्एकान्त है ?

उत्तर – बिल्कुल नहीं, यह मिथ्याएकान्त है, क्योंकि इसमें शुद्धभाव का निषेध किया है।

प्रश्न 168– शुद्धभाव से ही धर्म होता है, क्या यह भी मिथ्याएकान्त है?

उत्तर – बिल्कुल नहीं, यह सम्यक्एकान्त है। शुद्धभाव से ही धर्म होता है, यह अर्पित कथन और शुभभाव से नहीं, यह अनर्पित कथन इसमें आ ही जाता है।

प्रश्न 169– मिथ्याएकान्त के दृष्टान्त दीजिए?

उत्तर – (1) आत्मा, सर्वथा नित्य ही है। (2) आत्मा, सर्वथा अनित्य ही है। (3) आत्मा, सर्वथा एक ही है। (4) आत्मा, सर्वथा अनेक ही है। (5) आत्मा को शुभभाव से ही धर्म होता है। (6) भगवान का दर्शन ही सम्यक्त्व है। (7) अणुव्रतादिक का पालन करना ही श्रावकपना है। (8) 28 मूलगुण पालन करना ही मुनिपना है। (9) चार हाथ जमीन देखकर चलना ही ईर्यासमिति है। (10) भूखा रहना ही क्षुधापरिषहजय है। यह सब मिथ्या–एकान्त है, क्योंकि इनमें अन्य धर्मों का सर्वथा निषेध पाया जाता है।

प्रश्न 170– सम्यक्एकान्ती कौन है?

उत्तर – वस्तु, सामान्य–विशेषस्वरूप है – ऐसा जिसको प्रमाण ज्ञान हुआ हो, वह जानता है कि वस्तु द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा, सामान्य ही है तथा वस्तु पर्यायर्थिकनय की अपेक्षा, विशेष ही है, ऐसी मान्यतावाले ही सम्यक्एकान्ती है।

प्रश्न 171– मिथ्याएकान्ती कौन है?

उत्तर – वस्तु, सामान्य–विशेषस्वरूप है, ऐसा न जानकर कोई वस्तु को सर्वथा सामान्य ही माने, कोई वस्तु को सर्वथा विशेष ही माने – ऐसी मान्यतावाले दोनों मिथ्याएकान्ती हैं।

प्रश्न 172– सम्यक्एकान्त के दृष्टान्त दीजिए ?

उत्तर – (1) आत्मा, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य ही है। (2) आत्मा, पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनित्य ही है। (3) आत्मा, द्रव्य की अपेक्षा एक ही है। (4) आत्मा, गुण–पर्याय भेद की अपेक्षा अनेक ही है। (5) आत्मा को शुद्धभाव से ही धर्म होता है। (6) आत्मा के आश्रय से श्रद्धागुण में से शुद्धदशा प्रगट होना ही सम्यक्त्व है। (7) दो चौकड़ी कषाय के अभावरूप शुद्धदशारूप देशचारित्र ही श्रावकपना है। (8) शुद्धोपयोगरूप दशा ही मुनिपना है। (9) तीन चौकड़ी कषाय के अभावरूप शुद्धि ही ईर्यासमिति है। (10) तीन चौकड़ी के अभावरूप शुद्धि की वृद्धि होना ही क्षुधापरिषहजय है। यह सब सम्यक्एकान्त है, क्योंकि इनमें अन्य धर्मों का किसी अपेक्षा से निषेध पाया जाता है।

प्रश्न 173– अनेकान्त के समयसारशास्त्र में कितने बोल कहे हैं ?

उत्तर – नित्य–अनित्य, एक–अनेक, तत्–अतत् आदि 14 बोल कहे हैं।

प्रश्न 174– नित्य-अनित्य, एक-अनेक, तत्-अतत् आदि जो 14 बोलों को न समझे, उसे भगवान ने क्या कहा है ?

उत्तर – उसे 14 बार पशु कहा है।

प्रश्न 175– इन 14 बोलों के अनेकान्त–स्याद्वादस्वरूप को समझ ले तो क्या होता है ?

उत्तर – (1) जो जीव, भगवान के कहे हुए 14 बोल के अनेकान्त–स्याद्वाद के स्वरूप को समझ ले तो वह जीव, श्री समयसार में आये हुए गाथा 50 से 55 तक वर्णादिक 29 बोलों से रहित, अपने

एकमात्र भूतार्थस्वभाव का आश्रय लेकर, सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति कर क्रमशः मोक्ष की प्राप्ति करता है।

(2) पञ्चम पारिणामिकभाव का महत्त्व आ जाता है, और चार भावों की महिमा छूट जाती है।

(3) चारों गति के अभावरूप पञ्चमगति की प्राप्ति होती है।

(4) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग, संसार के पाँच कारणों का अभाव हो जाता है।

(5) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव – ऐसे पाँच परावर्तनों का अभाव हो जाता है।

(6) पञ्च परमेष्ठियों में उसकी गिनती होने लगती है।

(7) 14 वाँ गुणस्थान प्राप्त होकर, सिद्धदशा की प्राप्ति होती है।

(8) आठों कर्मों का अभाव हो जाता है।

(9) सम्पूर्ण दुःखों का अभाव होकर, सम्पूर्ण सुखी हो जाता है।

प्रश्न 176– अनेकान्त–स्याद्वाद के 14 बोलों को न समझे, तो क्या होगा ?

उत्तर – (1) समयसार में भगवान ने उसे 'पशु' कहा है। (2) आत्मावलोकन में 'हरामजादीपना' कहा है। (3) प्रवचनसार में कहा है कि 'वह पद पद पर धोखा खाता है'। (4) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में 'वह जिनवाणी सुनने के अयोग्य है।' (5) समयसार में 'वह संसार परिभ्रमण का कारण कहा है।' (6) समयसार, कलश ५५ में 'यह अज्ञान, मोह–अज्ञान–अन्धकार है, उसका सुलटना दुर्निवार है' – ऐसा बताया है। (7) अनेकान्त–स्याद्वाद को न समझनेवाला मिथ्यादर्शनादि की पुष्टि करता हुआ, चारों गतियों में घूमता हुआ निगोद में चला जाता है।

प्रश्न 177– अनेकान्त का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर – अनेकान्तमार्ग भी सम्यक्एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति कराने के सिवाय, अन्य किसी भी हेतु से उपकारी नहीं है।

प्रश्न 178– नित्य–अनित्य को अनेकान्त की परिभाषा में लगाओ ?

उत्तर – प्रत्येक वस्तु में वस्तुपने की सिद्धि करनेवाली नित्य –अनित्य आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का एक ही साथ प्रकाशित होना, उसे अनेकान्त कहते हैं।

प्रश्न 179– नित्य–अनित्यधर्म में विरोध होने पर भी स्याद्वाद–अनेकान्त इस विरोध को कैसे मिटाता है ?

उत्तर – क्या द्रव्य, नित्य है ? उत्तर – हाँ है। क्या द्रव्य, अनित्य है ? उत्तर – हाँ है। देखो – दोनों प्रश्नों के उत्तर में 'हाँ' है, विरोध –सा लगता है परन्तु द्रव्य, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य है और पर्यायर्थिकनय की अपेक्षा अनित्य है – ऐसा स्याद्वाद–अनेकान्त नित्य–अनित्य के परस्पर विरोध को मिटाकर, नित्य–अनित्यधर्म स्वरूप वस्तु की सिद्धि करता है।

प्रश्न 180– नित्य पर सम्यक्अनेकान्त किस प्रकार लगता है ?

उत्तर – द्रव्य, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य ही है; अनित्य नहीं है – यह सम्यक्अनेकान्त है।

प्रश्न 181– अनित्य पर सम्यक्अनेकान्त किस प्रकार लगता है ?

उत्तर – द्रव्य, पर्यायर्थिकनय की अपेक्षा अनित्य ही है; नित्य नहीं है, यह सम्यक्अनेकान्त है।

प्रश्न 182- नित्य पर मिथ्याअनेकान्त किस प्रकार लगता है ?

उत्तर - द्रव्य, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य भी है और अनित्य भी है, यह मिथ्याअनेकान्त है।

प्रश्न 183- अनित्य पर मिथ्याअनेकान्त किस प्रकार लगता है ?

उत्तर - द्रव्य, पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनित्य भी है और नित्य भी है, यह मिथ्याअनेकान्त है।

प्रश्न 184- नित्य पर सम्यक्एकान्त किस प्रकार लगता है ?

उत्तर - द्रव्य, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य ही है, यह सम्यक्एकान्त है।

प्रश्न 185- अनित्य पर सम्यक्एकान्त किस प्रकार लगता है ?

उत्तर - द्रव्य, पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनित्य ही है, यह सम्यक्एकान्त है।

प्रश्न 186- नित्य पर मिथ्याएकान्त किस प्रकार लगता है ?

उत्तर - द्रव्य, सर्वथा नित्य ही है, यह मिथ्याएकान्त है।

प्रश्न 187- अनित्य पर मिथ्याएकान्त किस प्रकार लगता है ?

उत्तर - द्रव्य, सर्वथा अनित्य ही है, यह मिथ्याएकान्त है।

प्रश्न 188- प्रत्येक द्रव्य, नित्य-अनित्यादि अनेक धर्म स्वरूप है, ऐसा किसने बताया ?

उत्तर - जिन, जिनवर और जिनवरवृषभों ने बताया है।

प्रश्न 189– जिन, जिनवर और जिनवरवृषभों ने प्रत्येक द्रव्य को नित्य–अनित्यादि अनेक धर्मस्वरूप बताया है, इसको जानने–मानने से ज्ञानियों को क्या लाभ होता है ?

उत्तर – (1) प्रत्येक द्रव्य, नित्य–अनित्यादि धर्मस्वरूप है – ऐसा जाननेवाले श्रुतज्ञानी को सम्पूर्ण द्रव्यों का ज्ञान, केवली के समान हो जाता है; मात्र प्रत्यक्ष–परोक्ष का अन्तर रहता है।

(2) ज्ञानी साधक, नित्यधर्मस्वरूप निज आत्मा में विशेष एकाग्रता करके, केवलज्ञान की प्राप्ति कर लेता है।

प्रश्न 190– प्रत्येक द्रव्य, नित्य–अनित्य अनेक धर्मस्वरूप है, इसे सुनकर सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि क्या जानता है और क्या करता है ?

उत्तर – अपने मानसिकज्ञान में प्रत्येक द्रव्य, नित्य–अनित्यादि अनेक धर्मस्वरूप है – ऐसा निर्णय करके, अपने नित्यधर्मस्वरूप आत्मा की दृष्टि करके, साधक बनकर क्रम से सिद्धदशा की प्राप्ति कर लेता है।

प्रश्न 191– प्रत्येक द्रव्य, नित्य–अनित्यादि अनेक धर्म –स्वरूप है, इसको सुनकर अपात्र मिथ्यादृष्टि क्या जानता है और क्या करता है ?

उत्तर – प्रत्येक द्रव्य, नित्य–अनित्यादि अनेक धर्मस्वरूप कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता; एक ही समय में नित्य और अनित्य कैसे हो सकता है ? इस प्रकार मिथ्या मान्यता की पुष्टि करके, चारों गतियों में घूमता हुआ निगोद चला जाता है।

प्रश्न 192– यह नित्य–अनित्यादि अनेक धर्म, प्रत्येक द्रव्य में ही लगते हैं या और किसी में भी लगते हैं ?

उत्तर – प्रत्येक द्रव्य तथा प्रत्येक द्रव्य के एक-एक गुण में भी नित्य-अनित्यादि अनेक धर्म लग सकते हैं। इससे प्रत्येक द्रव्य-गुण की स्वतन्त्रता का ज्ञान होता है।

प्रश्न 193– एक-अनेक; सत्-असत्; तत्-अतत्; भेद-अभेद पर सम्यक्अनेकान्त और मिथ्या-अनेकान्त आदि के सब प्रश्नोत्तर लगाकर बताओ ?

उत्तर – इन सभी प्रश्नों का प्रश्न क्रमांक 178 से 192 तक के अनुसार उत्तर दीजिये।

प्रश्न 194– स्याद्वाद-अनेकान्त के विषय में श्री समयसार, कलश 273 में क्या बताया है ?

उत्तर – (1) पर्यायदृष्टि से देखने पर आत्मा, अनेकरूप दिखायी देता है और द्रव्यदृष्टि से देखने पर एकरूप; (2) क्रमभावी पर्यायदृष्टि से देखने पर, क्षणभंगुर दिखायी देता है और सहभावी गुणदृष्टि से देखने पर, परम विस्तार को प्राप्त दिखायी देता है और प्रदेशों की अपेक्षावाली दृष्टि से देखने पर, अपने प्रदेशों में ही व्याप्त दिखायी देता है। ऐसा द्रव्य-पर्यायात्मक अनन्तधर्मवाला वस्तु का स्वभाव है।

प्रश्न 195– अनेकान्त-स्याद्वाद के विषय में श्री समयसार, कलश 274 में क्या बताया है ?

उत्तर – (1) एक ओर से देखने पर, कषायों का क्लेश दिखायी देता है और एक ओर से देखने पर शान्ति (कषायों का अभावरूप शान्तभाव) दिखायी देता है; (2) एक ओर से देखने पर, परभाव की (सांसारिक) पीड़ा दिखायी देती है और एक ओर से देखने पर, (संसार के अभावरूप) मुक्ति भी स्पर्श करती है। (3) एक ओर से

देखने पर तीनों लोक दिखायी देता है और एक ओर से देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है। ऐसी आत्मा की अद्भुत से भी अद्भुत स्वभाव महिमा जयवन्त वर्तती है।

प्रश्न 196– श्री समयसार, कलश 273–274 में अज्ञानी क्या मानता है और ज्ञानी क्या मानता है ?

उत्तर – अहो, 'आत्मा का यह सहज वैभव अद्भुत है।' वह स्वभाव, अज्ञानियों के ज्ञान में आश्चर्य उत्पन्न करता है कि यह तो असम्भव सी बात है। ज्ञानियों को वस्तुस्वभाव में आश्चर्य नहीं होता; फिर भी उन्हें कभी नहीं हुआ ऐसा अभूतपूर्व–अद्भुत परमानन्द होता है, और आश्चर्य भी होता है। अहो! यह जिनवचन महान उपकारी हैं, वस्तु के यथार्थस्वरूप को बतानेवाले हैं; मैने अनादिकाल ऐसे यथार्थस्वरूप के ज्ञान बिना ही व्यतीत कर दिया है। अहा! स्याद्वाद–अनेकान्तरूप मेरा स्वभाव जयवन्त वर्तता है। ऐसा स्याद्वाद –अनेकान्तस्वरूप ही दुःख का अभाव करनेवाला और सुख का देनेवाला है। हे संसार के प्राणियों! ऐसे अनेकान्त–स्याद्वाद स्वरूप की पहिचान करो।

प्रश्न 197– दुःख से छूटने के लिए और सुखी होने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर – अनन्त शक्तिसम्पन्न अनेकान्तस्वरूप निज भगवान आत्मा को पहिचानना चाहिए।

प्रश्न 198– ज्ञानमात्र आत्मा, अनेकान्तस्वरूप किस प्रकार से है ?

उत्तर – ज्ञानमात्र आत्मा को ज्ञानलक्षण के द्वारा अनुभव करने पर, आत्मा में मात्र ज्ञान ही नहीं आता है परन्तु ज्ञान के साथ, आनन्द,

प्रभुता, वीर्य, दर्शन, चारित्र, अस्तित्वादिक अनन्त गुणों सहित अभेद आत्मा अनुभव में आता है। इस प्रकार ज्ञानमात्र आत्मा कहते ही, अनेकान्तपना आ जाता है।

प्रश्न 199– आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें हेर-फेर होता है या नहीं होता है?

उत्तर – आत्मा में अनन्त शक्तियाँ एक साथ काम करती हैं। शक्तियों में हेरफेर नहीं होता; प्रत्येक शक्ति की पर्यायें, क्रम-क्रम से भी नहीं होती हैं, अपितु जितनी शक्तियाँ हैं, उतनी-उतनी पर्यायें एक-एक समय करके निरन्तर होती रहती हैं।

प्रश्न 200– ज्ञानलक्षण द्वारा ध्यान में क्या आता है और क्या नहीं आता है?

उत्तर – ज्ञानलक्षण द्वारा अनन्त गुणों का पिण्ड ज्ञायक भगवान अनुभव में आता है और नौ प्रकार का पक्ष अनुभव में नहीं आता है।

प्रश्न 201– आत्मा किसके द्वारा अनुभव में आता है और किसके द्वारा अनुभव में नहीं आता है?

उत्तर – एकमात्र प्रज्ञारूपी छैनी द्वारा ही आत्मा अनुभव में आता है और नौ प्रकार के पक्षों द्वारा आत्मा अनुभव में नहीं आता है।

प्रश्न 202– आत्मा और अनन्त शक्तियों का द्रव्य, क्षेत्र-काल-भाव एक ही है या अलग?

उत्तर – आत्मा और अनन्त शक्तियों का द्रव्य-क्षेत्र-काल एक ही है; मात्र भाव में अन्तर है।

प्रश्न 203– भगवान का लघुनन्दन कब कहलाता है?

उत्तर – अनन्त शक्तिसम्पन्न निज आत्मा को अनुभव करने पर ही भगवान का लघुनन्दन कहला सकता है।

प्रश्न 204– प्रत्येक शक्ति का द्रव्य, क्षेत्र और काल, एक होने पर भी, भावभेद हैं, इसे स्पष्ट समझाइये ?

उत्तर – कार्य भेद है। जैसे, जीवत्वशक्ति का कार्य, आत्मा को चैतन्यप्राणों से जिलाना है। ज्ञान का कार्य, जानना है। श्रद्धा का कार्य, प्रतीति है। चारित्र का कार्य, लीनता है। वीर्य का कार्य, स्वरूप की रचना है। सुख का कार्य, आकुलतारहित शान्ति का अनुभव है। प्रभुताशक्ति का कार्य, स्वतन्त्रता से शोभायमान रहना है। प्रकाशशक्ति का कार्य, स्वयं-प्रत्यक्ष स्वानुभव करना है। इस प्रकार अनन्त शक्तियों के कार्य भेद होने पर भी, द्रव्य-क्षेत्र-काल का भेद नहीं है।

प्रश्न 205– जीवत्वशक्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर – चैतन्यमात्र भावप्राण को धारण करे, उसे जीवत्वशक्ति कहते हैं।

प्रश्न 206– जीवत्वशक्ति के जानने से क्या लाभ हैं ?

उत्तर – आत्मा, दस प्राणों से और भावेन्द्रियरूप अशुद्धभाव प्राणों से जीता है, ऐसी खोटी मान्यता का अभाव हो जाता है और चैतन्यप्राणों से आत्मा सदा जीता है, ऐसा अनुभव हो जाता है।

प्रश्न 207– जीवत्वशक्ति क्या करती है ?

उत्तर – आत्मा को कभी भी अजीवरूप नहीं होने देती; सदैव जीवरूप रखती है।

प्रश्न 208– जीवत्वशक्ति में पाँच भाव लगाओ ?

उत्तर – आत्मा की जीवत्वशक्ति=पारिणामिकभाव। रागादि उदयभावों का अभाव=औदयिकभाव नास्तिरूप आया। जीवत्वशक्ति का शुद्धरूप परिणमन=क्षयोपशम और क्षायिकभाव आ गये; परन्तु औपशमिकभाव नहीं आता है।

प्रश्न 209– जीवत्वशक्ति में सात तत्त्व लगाओ?

उत्तर – त्रिकाल चैतन्यप्राण से सम्पन्न ज्ञायकभाव=जीवतत्त्व। शुद्धपर्याय प्रगटी=संवरा–निजरा और मोक्षतत्त्व। अशुद्धपरिणमन दूर हुआ=आस्रव–बंधतत्त्व। जड़प्राणों से भिन्न जाना = अजीव–तत्त्व। इस प्रकार जैसे–जीवत्वशक्ति में सात तत्त्व आये; उसी प्रकार प्रत्येक शक्ति में लगाना चाहिए।

प्रश्न 210– जीवत्वशक्ति में किसका समावेश होता है और किसका समावेश नहीं होता है?

उत्तर – जीवत्वशक्ति में अक्रमरूप अनन्त शक्तियाँ और उन शक्तियों का क्रम–क्रम से होनेवाला शुद्धपरिणमन; इस प्रकार क्रम –अक्रमरूप अनन्त धर्मों का जीवत्वशक्ति में समावेश होता है। नौ प्रकार के पक्षों का समावेश जीवत्वशक्ति में नहीं होता है। जीवत्व –शक्ति की तरह ही, बाकी सब शक्तियों में जानना और लगाना चाहिए।

प्रश्न 211– शक्तियों की यथार्थ पहिचान कब होती है?

उत्तर – अपनी ज्ञान की पर्याय, निज आत्मा के सन्मुख करने पर ही शक्तियों की यथार्थ पहिचान होती है क्योंकि अपने आपका अनुभव होने पर ही अनन्त शक्तियाँ आत्मा में एक साथ उछलती हैं। इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी को अनन्त शक्तिसम्पन्न अपने ज्ञायक –स्वभाव को दृष्टि में लेना ही मनुष्यजीवन का सार है।

प्रश्न 212– आत्मा प्रसिद्ध हुई, ऐसा कब कहा जा सकता है?

उत्तर – मुझ आत्मा का पर द्रव्यों से तो किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। मुझ आत्मा में असंख्य प्रदेश, अनन्त शक्तियाँ,

एक-एक शक्ति में अनन्त सामर्थ्य है। मेरी किसी भी शक्ति में, उसके किसी भी प्रदेश में विकार नहीं है। पुण्य-पाप के विकल्पों से भिन्न, अनन्त गुणसम्पन्न निज आत्मा का अनुभव करने पर ही आत्मा की प्रसिद्धि होती है। इसलिए हे भव्यो! अपनी आत्मा का अनुभव करो, यह जैनशासन का सार है।

प्रश्न 213- 47 शक्तियों का स्वरूप स्पष्ट समझाओ?

उत्तर - आत्म-वैभव में पूज्य श्री कानजीस्वामी ने अलौकिक रीति से 47 शक्तियों का स्वरूप प्रवचन द्वारा समझाया है, उसमें देखिएगा, आपको अपूर्व आनन्द आयेगा।

॥ अनेकान्त-स्याद्वाद प्रथम अधिकार समाप्त॥

पण्डित कैलाशचन्द्र जैन

जन्म : सन् 1913

देह परिवर्तन : 19 दिसम्बर 2012

जन्मस्थान : ग्राम टिकरी, जिला मेरठ, उत्तरप्रदेश

पिता – श्री मिट्ठनलाल जैन

माता – श्रीमती भरतोदेवी जैन

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा, मथुरा-चौरासी एवं तत्पश्चात् जम्बू-विद्यालय, सहारनपुर में हुई। लघुवय में लाहौर में स्वतन्त्र व्यवसाय किया। देश के स्वाधीन होने के पश्चात्, स्वदेश वापिसी और बुलन्दशहर (उ०प्र०) में आजाद ट्रेडिंग कम्पनी के नाम से, पुस्तकों एवं स्टेशनरी का व्यवसाय किया। अपनी सहधर्मिणी श्रीमती विमलादेवी, चार पुत्रियों तथा एक पुत्र के साथ, पारिवारिक जिम्मेदारियों का निर्वहन करते हुए, धर्ममार्ग पर गतिशील रहे।

सिद्धक्षेत्र श्री गिरनारजी की यात्रा के समय, सोनगढ़ में विराजित दिव्यविभूति पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मंगल साक्षात्कार के उपरान्त, आपके जीवन में आमूलचूल परिवर्तन हुआ। फलस्वरूप, निरन्तर तत्त्वाराधना एवं तत्त्वप्रचार ही आपके जीवन के अभिन्न अंग बन गये और सम्पूर्ण देश में तत्त्वज्ञान की पताका फहराने के लिये, आप एकाकी निकल पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री के मंगल प्रवचनों एवं माननीय श्री रामजीभाई दोशी एवं खेमचन्दभाई सेठ की कक्षाओं में जो कुछ सीखा, उसे 'जैन-सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला' के, आठ भाग के रूप में संकलन का कार्य कर, जन-जन को जिनधर्म के गूढ़ रहस्य को साधारण भाषा में प्रस्तुत करने का अपूर्व कार्य किया।

आपकी तत्त्वज्ञान की प्रचार-प्रसार की उत्कृष्ट भावनाओं के फलस्वरूप, उन्हें क्रियान्वित करने हेतु, **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के रूप में आपके स्वप्न को आपके परिवार व समग्र मुमुक्षु-समाज ने साकार किया। यहाँ से प्रकाशित मासिक-पत्रिका, **मङ्गलायतन** के आप आजीवन प्रधान सम्पादक रहे।

स्वाभिमानीवृत्ति के साथ ही, निर्भीकता, निस्पृहता, सिद्धान्तों पर अडिगता आदि आपके व्यक्तित्व की उल्लेखनीय विशेषताएँ रही हैं।

आपके उपकारों के प्रति नतमस्तक होते हुए, आपके श्रीचरणों में वन्दन समर्पित करते हैं, और आपकी इस अनुपम कृति को समाज के लाभार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं।

जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला